प्रस्थानत्रयी–शाङ्करभाष्य में सांख्यसिद्धान्त समीक्षा

एम. फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध

शोध–निर्देशक

डॉ. राम नाथ झा

शोध–छात्र

रामकिशोर महोलिया

2008

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली–110067

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

नई दिल्ली–110067

New Delhi-110067

Tel. (O): 26742596, 26704128 (Direct)
26741557, 26742575 Extn.4126
Fax : 91-11-26742596

CERTIFICATE

This is to certify that dissertation entitled *"प्रस्थानत्रयी–शाङ्करभाष्य में सांख्य सिद्धान्त समीक्षा"* Submitted in partial fulfillment for the requirement for the award of the degree of **MASTER OF PHILOSOPHY** has been not previously submitted for any other degree of this University or any other University and is my original work.

RAMKISHOR MAHOLIYA

We recommend that dissertation may be placed before the examiners for the evaluation.

Prof. Varyam Singh
Chairperson

Prof. Varyam Singh
Chairperson
Special Centre for Sanskirt Studies
JNU, New Delhi-110067

16.07.08
Dr. Ram Nath Jha
Supervisor

Dr. Ram Nath Jha
Assistant Professor
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

सादर समर्पित

जीवन के तूफानों में शिलावत रहकर मेरे व्यक्तित्व और अस्तित्त्व को अपने रक्त और स्वेद के एक-एक बून्द से सींचकर तथा कठोर परिश्रम से इस अवस्था में पहुँचाने वाले वन्दनीय माता-पिता **श्रीमती बनारसी देवी व श्री सूणी लाल महोलिया,** वन्दनीय दादा-दादी **श्रीमती पन्नी देवी व श्री प्रभाती लाल महोलिया** एवं प्रिय मित्र निशा सिंह के प्रियतम परिनिब्बुत्त **अनुज प्रियांशु "गोलू"**

एवम्

आचार्य शंकर को अपनी सहज एवं विनम्र वाणी से सर्वथा मौन कर देने वाले (महान् अछूत) **अनपढ़** विद्वान् ***चाण्डाल*** को . . .

आभार–प्रदर्शन

प्रस्तुत लघु–शोध प्रबन्ध को मैं वात्सल्यमयी माता श्रीमती **बनारसी देवी एवं पिता श्री सूणी लाल महोलिया** के सतत् अतुल्य उत्साहवर्धन एवं आशीर्वाद से पूर्ण कर सका ।

प्रस्तुत लघु शोध–कार्य के लिये आभारी हूँ निर्देशक **डॉ. राम नाथ झा** का जिनके वैदग्धपूर्ण निर्देशन तथा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने अवसर प्रदान किया । जिसके बिना इसकी कल्पना भी नहीं कि जा सकती । डॉ. झा ने विषय चयन से लेकर शोधकार्य की साफल्यपूर्ण परिणिति में अमूल्य योगदान दिया। उनके कुशल एवं विश्लेषणात्मक मार्गदर्शन से प्रस्तुत कार्य सम्पन्न हो सका ।

बड़े भाई तुल्य माई राम जी का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ । जिनके अविश्मरणीय सहयोग से यह शोध कार्य परिसमाप्ति के इस मुकाम तक पहुँचा ।

सदैव प्रसन्न तथा विकट परिस्थियों में भी धीर बने रहने वाली मित्र निशा सिंह का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ । जिसने टाईपिंग आदि में मेरा बहुत सहयोग किया तथा समय–समय पर मेरा मनोबल बढाया ।

मैं, नितिन पाल सिंह का भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। जिसने मुझे शोध कार्य करने के लिये सत्र पर्यन्त तक अपना कम्प्युटर दिया । जिससे मैंने अपना शोध कार्य बहुत सरलता से कर सका।

बड़ी बहन सुमित्रा, मँजु, छोटा भाई पूरण, कालू, ईशवन्त, एवं छोटी बहन आँची के प्यार ने सदैव मनोबल बढ़ाया तथा यथायोग्य सहयोग प्रदान किया ।

अन्तिम साज–सज्जा के लिए मैं श्री बृजेश जी कुमार का धन्यवाद व्यक्त करता हूँ ।

मेरे मित्रों में विजय कुमार, विमल, सुनीला, सुजीत कुमार, भरत, जितेन्द्र कुमार, योगेश, मैत्रीवीर नागार्जुन, देबाशीष घोष, शकुन्तला, राकेश मीणा, कल्पना का व्यक्त करता हूँ। जिन्होंने प्रस्तुत शोध कार्य में समय–समय पर मेरा सहयोग किया ।

मेरे भूतपूर्व आदरणीय शिक्षक श्री रमेश कुमार एवं राजेन्द्र कुमार का ससाधु धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। जिनके मार्गदर्शन के बिना यह वृक्ष सुशोभित न हो पाता ।

मैं केन्द्राध्यक्ष, सभी शिक्षकों, कर्मचारियों तथा सभी दोस्तों का भी सच्चे दिल से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरे इस शोध-कार्य के दौरान प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सहायता प्रदान की ।

अन्त में, विशेष रूप से आभारी हूँ। भारतीय योजना आयोग के प्रथम बौद्ध सदस्य प्रो. भाल चन्द मुंगेकर एवं उच्च शिक्षा से सम्बन्धित निर्णय लेने वाली सर्वोच्च संस्था विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रथम बौद्ध अध्यक्ष प्रो. सुखदेव थोराट और वरिष्ट बौद्ध अधिकारी (भारतीय प्रशासनिक सेवा) डा.वुन्द्रू राजशेखर के प्रति जिन्होंने दलित शोधार्थियों के लिये राजीव गाँधी राष्ट्रीय अध्येतावृत्ति का सूत्रपात किया तथा इसी अध्येतावृत्ति के कारण मैं अपना लघु शोध प्रबन्ध पूरा कर पाया ।

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	विषय-वस्तु	पृष्ट संख्या
	विषय प्रवेश	१
प्रथम अध्याय	सांख्यदर्शन की अवैदिकता की समीक्षा	५
द्वितीय अध्याय	प्रकृत्ति सम्बन्धी आलोचनाओं की समीक्षा	६२
तृतीय अध्याय	पुरुष संबन्धी आलोचनाओं की समीक्षा	८३
	उपसंहार	९६
	सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची	१००

विषय–प्रवेश

भारतीय ज्ञान परम्परा में किसी चिन्तनधारा–विशेष को प्रस्थान कहा जाता है । किन्तु स्पष्ट रूप से इस शब्द को किसी सम्प्रदाय ने स्वीकार नहीं किया है, केवल वेदान्त परम्परा ही इसका अपवाद है । वेदान्त वह परम्परा है जिसका उद्भव उपनिषद्ों में होता है तथा परिपाक वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्र में होता है । उपनिषद् से पहले इस परम्परा का कहीं कोई वर्णन नहीं मिलता। इसलिए यहाँ यह प्रश्न प्रोत्थित होता है कि इस परम्परा का सहसा उद्भव कैसे हुआ । निश्चय ही यह एक गम्भीर प्रश्न है, क्योंकि विचारक इस विषय में मतभिन्नता रखते हैं । विद्वानों का एक बड़ा वर्ग इस पक्ष को स्वीकार करता है कि वेदान्त वेद का सार है जो कि उपनिषद्ों के रूप में उपनिबद्ध किया गया है । इस पक्ष से सहमत हुआ जा सकता है, क्योंकि भारतीय साहित्य के ज्ञात प्राचीनतम स्रोतों के अनुसार ज्ञान का जो विकासक्रम है, वह इस प्रकार है–

वैदिक–साहित्य कबीलाई समाज के ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है, **ब्राह्मण–ग्रन्थ** कबीलाई समाज के ज्ञान से अपेक्षाकृत कुछ विकसित ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं एवं **आरण्यक–ग्रन्थ** इससे भी अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं । किन्तु **उपनिषद्–साहित्य** ज्ञान की एक ऐसी अवस्था का प्रतिनिधित्व करता हैं, जो न तो आरण्यकों की तरह से अत्यन्त विकसित समाज के ज्ञान का कोई संकेत देता है और न ही उसका समर्थन करता है । विडम्बना यह है कि उपनिषद्ों में वर्णित समाज तो कुछ विकसित प्रतीत होता है, किन्तु उपनिषद्ों का विवेच्य सर्वथा वैदिक अर्थात् कबीलाई समाज के ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है । इसके दूसरे शब्दों इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैचारिक स्वतन्त्रता का विरोध, अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्ड का समर्थन, वर्णव्यवस्था का समर्थन आदि सभी वैदिक तत्त्व उपनिषद्ों में भी यथावत् उपलब्ध होते हैं ।[1]

---

[1] उपनिषद् में स्वतन्त्र चिन्तन का विरोध छान्दोग्योपनिषद्, ३/६/१ तथा ३/९/२६, उपनिषद् में अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्डों को करने का सख्त आदेश मुण्डकोपनिषद् १/२/३ इतना ही नहीं छान्दोग्योपनिषद् ५/८/१,२ तथा वृहदारण्कोपनिषद्, ६/२/१३ में संभोग को भी यज्ञ सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, उपनिषद् में वर्णव्यवस्था को दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान करके उचित ठहराने का प्रयस छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/६,७ तथा वृहदारण्यकोपनिषद् १/४/११,१२,१३,१४,१५

विकासमान अवस्था से दूर होते हुए कबीलाई विचारों की ओर लौटना सामान्य घटना नहीं है । इससे कबीलाई चिन्तन के विरोध में किसी बड़े आन्दोलन के उठ खड़े होने का संकेत मिलता है। ऐसे आन्दोलनों के विषय में अधिक विवेचन तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु साहित्योपलब्ध संकेतों के आधार पर यह निष्कृष्ट होता है कि सांख्य और चार्वाक दो ऐसी बड़ी चिन्तनधाराएँ थीं जिन्होंने कबीलाई परम्परा के पोषण के विरुद्ध मोर्चा लिया । सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करने पर यह तथ्य सामने आता है कि वैदिक कबीलाई समाज की मान्यताओं को अपेक्षाकृत स्वीकरणीय रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है तथा इससे कुछ हटकर अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक दृष्टि का प्रयोग आरण्यकों में उपलब्ध होता है, किन्तु उपनिषद्ों में ब्रह्म नामक एक अस्पष्ट सी अवधारणा[२] को आधार बनाकर वैदिक मान्यताओं को परिपुष्ट करने का प्रयास किया गया है।[३]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि केवल चार्वाकीय विचारधारा उपनिषद्ों के उद्भव का कारण नहीं है, अपितु सांख्य की चिन्तनधारा का जनसाधारण में अधिक प्रसार हो जाना ही इसके उद्भव के लिए सबसे बड़ा कारण प्रतीत होता है, क्योंकि चार्वाक परम्परा के विशुद्ध भौतिकवाद का मुकाबला करने के लिए वैदिक परम्परा के चिन्तकों को किसी आध्यात्मिक प्रस्थान के प्रारम्भ की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वैदिक परम्परा (विशेष रूप से ऋग्वेदिक परम्परा) तो स्वयमेव पर्याप्त भौतिकवादी रही है । जबकि इसके ठीक विपरीत उपनिषद् का प्रतिपाद्य एक आध्यात्मिक अवधारणा (ब्रह्म) है, जिससे यह संकेत मिलता है कि यह अवधारणा किसी आध्यात्मिकता प्रधान परम्परा के विरुद्ध वैदिक परम्परा को पुनर्परिभाषित करने हेतु किया गया प्रयास है। इधर सांख्य सर्वथा आध्यात्मिकता प्रधान चिन्तनधारा है जो दुःखमुक्ति हेतु

---

[२]कठोपनिषद् २/६/१७ तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१३ में ब्रह्म को अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है, जबकि ईशोपनिषद् मन्त्र ८ तथा श्वेताश्वतरोपनिषद ३/११ में उसे सर्वव्यापक कहा गया है । इसी तरह केनोपनिषद् १/३,४,५,६,७,८ में ब्रह्म को वाणी, मन, चक्षु,श्रोत्र, प्राण से अगम्य कहा गया है जबकि वृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/५ में उसे विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय आदि कहा गया है । इसप्रकार ब्रह्म की औपनिषदिक अवधारणा सर्वथा अस्पष्ट है ।

[३]जन्माधारित वर्णव्यवस्था को सिद्ध करने हेतु छान्दोग्योपनिषद ४/४/१,२,३,,४,५ को आधार बनाया गया है । नारी को उपभोग्य वस्तुमात्र सिद्ध करने के लिए छान्दोग्योपनिषद ४/२/५ को आधार बनाया गया है । स्वतन्त्र चिन्तन का विरोध करने हेतु कठोपनिषद् १/२/८,९,१० तथा केनोपनिषद् ३,४,५,६,७,८ को आधार बनाया गया है ।

वैदिक उपायों को अपवित्र, हानिकर तथा अपर्याप्त बताकर पुरुष-प्रकृति विवेक रूपी अत्यन्त आध्यात्मिक उपाय को ऐकान्तिक एवं आत्यान्तिक उपाय के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

इन्हीं उपनिषदों के प्रतिपाद्य को उपजीव्य बनाकर महाभारत के भीष्मपर्व में उपलब्ध श्रीमद्भगवद्गीता नाम से संकलित अठारह अध्यायों की रचना की गयी है । इन अध्यायों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें उपनिषद्ों के प्रतिपाद्य को अत्यन्त सरल भाषा में तथा सुबोध रीति से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । गीता की भाँति ही उपनिषदों के प्रतिपाद्य को उपजीव्य बनाकर सूत्र शैली में वादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की।

चूँकि औपनिषदिक युग में उपनिषद् संबन्धी बड़े विचारकों में से अधिकतम विचारक ऋषि थे तथा ऋषियों से प्राप्त ज्ञान को श्रुति कहा जाता है, इसलिए उपनिषद् को श्रुति-प्रस्थान कहा गया है । गीता में उपनिषद् के सिद्धान्तों का अनायास ही स्मरण हो जाने के कारण उसे स्मृति-प्रस्थान कहा गया है और ब्रह्मसूत्र में उसी प्रतिपाद्य को तार्किक विधि से प्रस्तुत किया गया है और तर्क को न्याय भी कहा जाता है, इसलिए ब्रह्मसूत्र को न्याय-प्रस्थान कहा गया है ।

जैसा कि पहले विवेचन किया जा चुका है कि औपनिषदिक परम्परा के मूल में सांख्य को निष्प्रभाव करने की भावना निहित थी, इसलिए इस भावना की प्रतिच्छाया गीता एवं ब्रह्मसूत्र में भी परिलक्षित होती है । किन्तु इन ग्रन्थों में यह अत्यधिक स्थूल रूप में उपलब्ध नहीं होती है । इसलिए इस परम्परा के चिन्तकों एवं अनुयायियों को इसकी विशद् व्याख्या की आवश्यकता महसूस हुई । इसी आवश्यकता को सर्वप्रथम आचार्य शङ्कर ने इन ग्रन्थों पर अपना शाङ्करभाष्य अथवा शारीरकभाष्य नामक भाष्य लिखकर पूरा किया।

यहाँ इस जिज्ञासा का उठना अस्वाभाविक नहीं है कि आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में सांख्य की स्थापनाओं का खण्डन कितनी सत्यनिष्ठा के साथ किया है क्योंकि उनके सामने दो अपरिहार्य परस्थितियाँ थी जिनसे सांख्य संबन्धी आलोचनाओं में वस्तुनिष्ठता का अभाव होना निश्चित हो जाता है, वे हैं-

१. अपने सम्प्रदाय के बचाव हेतु सुरक्षात्मक स्थित का अपनाया जाना तथा इस बाध्यता के चलते यहाँ निष्पक्ष आलोचना की संभावनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं।

२. वादरायण द्वारा सांख्य की आलोचना में विशेषसूत्रों की रचना, जो आचार्य शङ्कर को एक निश्चित तथ्य को स्वीकार करने को बाध्य करती है ।

इसीलिए प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध में आचार्य शङ्कर द्वारा पूर्वोक्त प्रस्थानत्रयी में की गयी सांख्य की आलोचनाओं की ही समीक्षा की जा रही है । यह समीक्षा विवेचन की सहजता की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त है । प्रथम भाग में आचार्य शङ्कर द्वारा प्रस्तुत इस तर्क की समीक्षा की गयी है कि सांख्य एक अवैदिक दर्शन है। यहाँ आचार्य शङ्कर द्वारा प्रदत्त मानदण्डों पर भी सूक्ष्मता से विचार किया जा रहा है। दूसरे भाग में आचार्य शङ्कर द्वारा सांख्य की महत्वपूर्ण स्थापना प्रधानकारणवाद की आलोचना की समीक्षा की जा रही है और अन्त में, तीसरे भाग में आचार्य शङ्कर द्वारा सांख्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष पुरुषवाद की आलोचना की समीक्षा की जा रही है। इन्हीं तीनों भागों को तीन अध्यायों में उपनिबद्ध किया जा रहा है।

अध्याय – १

सांख्य की अवैदिकता की समीक्षा

शङ्कर की उद्घोषणा

भारतीय चिन्तन परम्परा में आचार्य शङ्कर के उदय को एक अभूतपूर्व एवं अद्वितीय घटना के रूप में जाना जाता है । उन्होंने विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों का खण्डन किया है । उनके द्वारा किये गये सभी कार्यों की समीक्षा तो एक ग्रन्थ में बिल्कुल भी संभव नहीं है । इसलिए इस प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध में उनके द्वारा की गयी सांख्य–सिद्धान्तों की आलोचना की समीक्षा की जायेगी।

सर्व प्रथम यह प्रश्न समुपस्थित होता है कि भारतीय दर्शन परम्परा के अनुसार जिन छः(६) दर्शनों को आस्तिक एवं वैदिक माना गया है । उन्हीं में से एक, सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों की आलोचना के लिये आचार्य शङ्कर को क्यों प्रवृत्त होना पडा। इस प्रश्न का उत्तर आचार्य शङ्कर के शब्दों में इस प्रकार है–

"सांख्य सिद्धान्त का वेद के साथ समन्वय नहीं है और संकोच भी नहीं है। धर्म के विषय में वेद अवकाश युक्त है और संकोच अवकाश हीनता है । इसलिए प्रत्यक्षरूपेण श्रुति(वेद) पर आधारित मनुस्मृति आदि के द्वारा यह आधारहीन कापिलस्मृति बाधित करने योग्य है, इसलिए इससे कोई संकोच नहीं है ।[४]"

---

[४] सांख्यस्मृया तु संकोचो न वा वेदसमन्वये।
धर्मे वेदः सावकाशः संकोचोऽनवकशता॥१॥ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् स्मृत्यधिकरण (१)

प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृभिः स्मृतिः।
अमूला कापिली बाध्या न संकोचोऽनया ततः॥२॥ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् स्मृत्यधिकरण (१)

अर्थात् वर्तमान विचारकों की इस मान्यता के ठीक विपरीत कि सांख्य दर्शन वैदिक है, आचार्य शङ्कर दृढता पूर्वक उद्घोषित करते हैं कि कपिल द्वारा प्रतिपादित सांख्य-सिद्धान्त वेद सम्मत नहीं है अर्थात अवैदिक है ।

आचार्य शङ्कर के अवैदिकता के मानदण्ड

सांख्य स्मृति से तो संकोच है, वेद का समन्वय भी नहीं है धर्म के विषय में वेद सावकाश है और अनवकाशता ही संकोच है ।[५]

प्रत्यक्षतः वेद पर आधारित मनुस्मृति अबाधनीय है इसलिए इससे संकोच नहीं करना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि सांख्य इसलिए अवैदिक है कि:-

- ❖ वेद धर्म के विषय में सावकाश है ।
- ❖ उस अवकाश में वेदमूलक स्मृतियाँ है ।
- ❖ सांख्य इन वेदमूलक स्मृतियों के विरुद्ध है ।

अब प्रश्न समुत्पन्न होता है कि वेद किस धर्म के विषय में सावकाश है, जहाँ वेदमूलक स्मृतियाँ अपना स्थान ग्रहण करती हैं, इस विषय में शङ्कर का उत्तर इस प्रकार है-

"तन्त्र नाम वाली परमर्षि कपिल रचित शिष्ट पुरुषों से गृहित स्मृति है और उसके अनुसारी अन्य भी स्मृतियाँ है । इस प्रकार ब्रह्म को कारण मानने पर निरर्थक सिद्ध होगा क्योंकि उन स्मृतियों में अचेतन स्वतन्त्र प्रधान जगत् का कारण स्वीकृत किया गया है । मनु आदि स्मृतियाँ तो विधिरूप अग्निहोत्र आदि धर्म समुह से अपेक्षित अर्थ का बोध कराती हुई सावकाश होती है । अमुक वर्ण का इस काल में इस विधि से उपनयन होना चाहिये, इस प्रकार आचार होना चाहिये, इस प्रकार वेद का अध्ययन करना चाहिये, इस प्रकार समावर्तन होना चाहिये, साथ धर्माचरण करने वाली स्त्री(पत्नी) के

---

[५] सांख्यस्मृया तु संकोचो न वा वेदसमन्वये।
धर्मे वेदः सावकाशः संकोचोऽनवकशता॥१॥ वही

प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृभिः स्मृतिः। वही
अमूला कापिली बाध्या न संकोचोऽनया ततः॥२॥

साथ इस प्रकार का संयोग होना चाहिये। इन सब अर्थों का मनु आदि स्मृतियाँ बोध कराती है । केवल विधिरूप यागादि से अपेक्षित अर्थ का ही बोध नहीं कराती हैं किन्तु इसी प्रकार वर्णाश्रम के लौकिक धर्मरूप नाना प्रकार के पुरूषार्थों का भी विधान करती है । कपिल आदि स्मृतियों में इस प्रकार के अनुष्टेय(कर्त्तव्य) विषय(कर्म) में सार्थकता नहीं है । जिससे मोक्ष के साधन विवेकज्ञान को ही उद्देश्य करके वे स्मृतियाँ रची गयी हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ करके सम्यग्दर्शन के अधिकारियों के लिये रची गयी है । यदि वहाँ भी अनवकाश होंगी, (स्वतन्त्र आदि का बोध नहीं करा सकेंगी) तो इनको अनर्थकता ही प्राप्त होगी।[६]

यहाँ शंका होती है कि ईक्षणादि रूप हेतुओं से सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है इस वेदार्थ के अवधारित होने पर फिर वह अवधारित अर्थ स्मृति अनवकाशता रूप दोष के प्रसंग से आक्षिप्त कैसे हो सकता है? अर्थात् श्रुति से विरुद्ध स्मृति अप्रमाण होती है । उसके साथ अविरोधपूर्वक वेदान्त का व्याख्यान करना चाहिये यह पूर्वपक्ष नहीं हो सकता है । ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि स्वतन्त्र बुद्धि वालों के लिये यह आक्षेप, नहीं हो सकता है । अर्थात् जो स्वतन्त्रतापूर्वक श्रुति के अर्थ को विचार सकते हैं, उनके लिये यह पूर्वपक्ष नहीं है । परन्तु मनुष्य प्रायः परतन्त्र बुद्धि वाले होते हैं, इससे स्वतन्त्रतापूर्वक श्रुति के अर्थ के निर्णय करने के लिये असमर्थ होकर प्रख्यात प्रणेताओं से रचित स्मृतियों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त होंगे, और उन स्मृतियों के बल से श्रुतियों के अर्थ को जानना चाहेंगे, एवं स्मृति के रचयिता में ।(आदर-प्रतिष्ठा होने से हमारे किये गये व्याख्यानों में विश्वास करेंगे। कपिलादि का आर्ष अप्रतिहत ज्ञान कहा जाता है । और श्रुति भी है कि (जो परमात्मा सृष्टि के आदिकाल में जायमान कपिल ऋषि को उत्पन्न करता है । और स्थिति काल में प्रसूत उस ऋषि को जो ज्ञानों से पालन-पोषण करता है । उस परमात्मा को देखना चाहिये) इससे इन कपिलादि के मत अयथार्थ है, ऐसी सम्भावना

---

[६] स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष प्रसङ्गात् ॥१॥

भाष्य-

यदुक्तं- ब्रह्मैव जगतः कारणम्-इति, तदयुक्तम्। कुतः? स्मृत्यवकाशदोषप्रसङात्। स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारिण्यः स्मृतयः, एवं सत्यनवकाशाः प्रसज्येरन्। तासु ह्यचेतनं प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारणमुपनिबध्यते। मन्वादिस्मृत्यस्तावच्चोदनालक्षणेनाग्निहोत्रादिना धर्मजातेनापेक्षितमर्थं समर्पयन्त्यः सावकाशा भवन्ति । अस्य वर्णस्यास्मिन् कालेऽनेन विधानेनोपनयनम्। ईदृशश्चाचारः इत्थं वेदाध्ययनम्, समावर्तनम्, इत्थं सहधर्मचारिणीसंयोग इति। तथा पुरुषार्थश्च वर्णाश्रमधर्मान्नानाविधान् विधति, नैवं कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति। मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ताः प्रणीताः। यदि तत्राप्यवकाशाः स्युरानर्थक्यमेवासां प्रसज्येत। ।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् २/१/१

नहीं कर सकते। और ये लोग तर्क का अवलम्बन लेकर प्रधानादि के अर्थ का प्रतिपादनादि रूप स्थापन करते हैं, इससे भी स्मृति बल से वेदान्त व्याख्यान के योग्य है यह फिर आक्षेप है ।[७]

इस आक्षेप का समाधान है कि कपिल स्मृति के अनुसार वेदान्त का व्याख्यान हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा करने से कपिल स्मृति से अन्य स्मृतियों की अनवकाशता रूप दोष की प्राप्ति होगी। यदि स्मृति के अनवकाशता रूप दोष के प्रसङ्ग से ईश्वर कारणवाद आक्षिप्त होगा तो इसी प्रकार ईश्वर को कारण कहने वाली अन्य स्मृतियाँ अनावकाश सिद्ध होगीं और इस प्रकार अनवकाश होने वाली स्मृतियों का अभी उदाहरण देंगे कि(जो वह सूक्ष्म विशेषरूप से जानने के अयोग्य है) इस प्रकार परब्रह्म के निरूपण का आरम्भ करके(वही प्राणियों की अन्तरात्मा है और वही क्षेत्र कहा जाता है) इस प्रकार कह कर(हे द्विजसत्तम! उससे तीन गुण वाला अव्यक्त उत्पन्न हुआ) इस प्रकार कहते है । इसी प्रकार अन्य स्थान में भी(हे ब्रह्मन्! निर्गुण पुरूष में अव्यक्त संप्रलीन होता है) इस प्रकार कहते हैं, ये इतिहास की बातें रही है ।[८]

पुराण में भी कहा गया है कि–इससे यह संक्षेप सुनो कि यह सब जगत् पुराण अनादि नारायण–सर्वाधिष्ठानस्वरूप है और वही नारायण सृष्टिकाल में सबको उत्पन्न करता है और फिर प्रलयकाल में सबको अपने में लीन करता है ।

भगवद्गीता में भी कहा गया है कि–मैं ही सर्व जगत् का प्रभव–उत्पादक और प्रलयाधार हूँ, और– परमात्मा का प्रसङ्ग करके ही आपस्तम्ब कहते हैं कि उस ईश्वर से ब्रह्मा आदि नाम वाले सब शरीर उत्पन्न होते हैं, इससे वह निमित्त कारण है, और वही सबका मूल=उपादान कारण है, और उपादान

---

[७] कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन पुनराक्षिप्येते। भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्रप्रज्ञानाम्, परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेन जनः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकासु स्मृतिष्ववलम्बेरन्। तद्वलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन्। अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु। कपिलप्रभृतीनां चार्ष ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति–'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे. ५।२) इति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् २/१/१

[८] तस्य समाधिः नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृत्योऽनवकाशाः प्रसज्येरन्। ता उदाहरिष्यामः–'यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह। तथान्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषं ब्रह्मन्निर्गुणं संप्रलीयते' इत्याह।
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् २/१/१

कारण होते हुए भी शाश्वतिक सदा एक रस रहने वाला निर्विकार कूटस्थ है, अतः एव नित्य अविनाशी है। इस प्रकार अनेक बार पुनः पुनः स्मृतयों में भी निमित्त कारण रूप से और उपादान रूप से ईश्वर प्रकाशित होता है । यद्यपि श्रुति विरोध से स्मृतिबल से प्रतिपक्षविरोध करने वाले को स्मृतिबल से ही उत्तर कहूँगा, इस विचार से यह अन्य स्मृति का अनवकाशरूप दोष कहा गया है । स्मृतियों का परस्पर विरोध होते हुए भी तत्त्व निर्णय का हेतु रूप श्रुतियों का ईश्वर कारणवाद के प्रति तात्पर्य को पहले दर्शित कराया गया है । स्मृतियों की परस्पर विप्रतिपत्ति दशा में दोनों में से एक का त्याग अन्य का ग्रहण अवश्य कर्त्तव्य होने से श्रुति के अनुसारिणी ईश्वर की कारणादि मानने वाली स्मृतियाँ प्रमाण होने योग्य हैं, और स्मृतियाँ अनपेक्ष्य अप्रमाण हैं। पूर्वमीमांसा के प्रमाण लक्षण (अध्याय) में कहा गया है कि (श्रुति से विरोध होने पर स्मृति अनपेक्ष होती है, विरोध के नहीं रहने पर उसके मूलरूप श्रुति का अनुमान होता है) और श्रुति के बिना धर्मादि रूप अतीन्द्रिय अर्थों को कोई जानता है ऐसी सम्भावना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि श्रुति के बिना अतीन्द्रिय अर्थ के ज्ञान के निमित्त कारण का अभाव रहता है ।[९]

शङ्का होती है कि अप्रतिहतज्ञान होने से कपिलादि सिद्धों को श्रुति के बिना भी अतीन्द्रिय अर्थों के ज्ञान की संभावना की जा सकती है । वहाँ कहा जाता है कि यदि एसे कोई शङ्का करे, तो वह कहना नहीं बन सकता, क्योंकि ईश्वर से अन्य की सिद्धि भी साक्षेप कारणजन्य होती है, जिससे धर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा वाली धर्मजन्य सिद्धि होती है, और वह धर्म (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) इस सूत्र के अनुसार विधिरूप लक्षण वाला पाप के सम्बध से रहित होता है, इससे सिद्धि से पहले सिद्ध चोदना विधि रूप श्रुति का अर्थ पश्चात् सिद्ध पुरूष के वचन के वश से उल्लंघित नहीं किया जा सकता है । अर्थात् श्रुति के मुख्यार्थ को त्यागकर गौणार्थता की शङ्का नहीं कर सकते है । सिद्धों के वचन का

---

[९] अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः॥
इति पुराणे। भगवद्गीतासु च–
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
(भ.गीता ७।६) इति। परमात्मानमेव च प्रकृत्यापस्तम्बः पठति–
तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्विकः स नित्यः। (ध. सू. १।८।२३।२) इति। एवमनेकशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते। स्मृत्यनवकाशदोषोपन्यासः दर्शितं तु श्रुतीनामीश्वरकारणवादं प्रति तात्पर्यम्। विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवकाश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृत्यः प्रमाणमनपेक्ष्या इतराः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे– 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै.सू. १।३।३) इति। नचातीन्द्रियानर्थान् श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं सम्भावयितुं निमित्ताभावात्।
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् २/१/१

आश्रयण करके वेदार्थ की कल्पना मानने पर भी सिद्धों के बहुत होने से और पूर्वप्रदर्शित प्रकार से सिद्धि की उक्त रूप स्मृतियों को भी विरोध होने पर श्रुति के आश्रयण से अन्य निर्णय का कारण नहीं हैं, अर्थात् श्रुतिरूप आश्रय के बिना सिद्धोक्ति मात्र तत्त्व निर्णय का कारण नहीं है, इससे श्रुति को आश्रयण करने वाले मनु आदि से श्रुति के अर्थ का निर्णय हो सकता है अन्य से नहीं। इससे परतन्त्र बुद्धिवाले को भी निर्हेतुक किसी स्मृतिविशेषविषयक पक्षपात होना युक्त नहीं है, किन्तु विचार आदि कर्त्तव्य है, क्योंकि विचारादि के बिना किसीका कहीं पक्षपात होने पर पुरूष की बुद्धि ही विश्वरूपता(विचित्रता अनन्तता) से तत्त्व का अव्यवस्थान(अनिश्चय) प्राप्त होगा । इससे उस परतन्त्र बुद्धि वाले को भी स्मृतियों की विप्रतिपत्ति के उपन्यास(कथनादि) द्वारा श्रुति के अनुसार विषय का और श्रुतिविरुद्ध विषय का विवेचनपूर्वक श्रुति के अनुसार विषय(प्रतिपाद्यार्थ) वाली स्मृति कथित सन्मार्ग में बुद्धि संग्रहणीय(प्राप्त और स्थिर करने योग्य) है । और कपिल के ज्ञानातिशय(ज्ञानाधिक्य) को प्रदर्शन(बोध) कराने वाली जो श्रुति पहले प्रदर्शित करायी गयी है, उससे श्रुतिविरुद्ध भी कपिलमत श्रद्धा के योग्य नहीं हो सकता है । क्योंकि (कपिलम्) यह श्रुति सामान्य मात्र है । अर्थात् श्रुतिकथित कपिल नाम समान(एकतुल्य) है, और कपिल नाम वाले अनेक हैं, इससे श्रुतिवर्णित सांख्य का कर्ता नहीं है, उस सांख्य कर्ता से अन्य सगर पुत्रों के प्रदाहक वासुदेव नामक कपिल का स्मृति में वर्णन है, इससे उनके ही ज्ञानातिशय का श्रुति में भी प्रदर्शित कराया गया है, सांख्यकर्ता का नहीं। और दूसरी बात यह है कि (जो कपिल को ज्ञान से पोंछता है उसको देखना चाहिए, इस श्रुति में ईश्वर के दर्शन का विधान है, उसके अङ्ग(शेष) रूप से कपिल और उनके ज्ञान का अनुवादमात्र है, इससे प्रमाणान्तर से प्राप्ति रहित जो अन्यार्थक दर्शन (अनुवाद) है, वह अर्थ का असाधक है, उससे सर्वज्ञत्वादि की सिद्धि नहीं हो सकती है । मनु की महिमा को प्रख्यात करने वाली अन्य श्रुति है कि (*मनु ने जो कुछ कहा है सो औषध है*)[१०] और मनु ने तो– सब भूतों में आत्मा और आत्मा में सब भूतों को देखता हुआ

---

[१०] शक्य कपिलादिनानां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत्? न। सिद्धरपि सापेक्षत्वात्। धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः। स च धर्मश्चोदनालक्षणः। ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशेनातिशङ्कितुं शक्यते। सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात्सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृतिविप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति। परतन्त्रप्रज्ञस्यापि नाकस्मात्स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः। कस्यचित्क्वचित्पक्षपाते सति पुरुषमतिवैश्वरूपेण तत्त्वाव्यवस्थानप्रसङ्गात्। तस्मात्तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्युपन्यासेन स्मृत्यनुसारानुसारविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा संग्रहणीया। या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्तो प्रदर्शिता न च तथा श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं, कापिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अनस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवानाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्। भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः–'यदै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्'(तै. सं. २२।१०।२) इति।

आत्मयाजी(ब्रह्मार्पण कर्त्ता) स्वयं प्रकाश मोक्षानन्द को प्राप्त करता है । इस रीति से सर्वात्म दर्शन की प्रशंसा करते हुए कपिल मत की निन्दा की है, ऐसी प्रतीति होती है, आत्मा में भेद के स्वीकार से सर्वात्मत्व दर्शन(ज्ञान) को कपिल नहीं मानते है । और महाभारत में भी (हे ब्रह्मन् पुरुष आत्मा बहुत है, अथवा एक ही हैं) इस प्रकार विचार कर(हे राजन् सांख्य योग के अनुसार विचार करने वालों के मत में आत्मा बहुत है।) इस अन्य के पक्ष का कथन करके, उसका व्युदास(निषेध) द्वारा–

जैसे– बहुत पुरुषाकार देहों की एक भूमियोनि उपादान कारण कही जाती है, वैसे ही सर्वज्ञत्वादि अधिक गुण वाला सर्वविश्वात्मक उस पुरुष को कहूँगा। इस प्रकार आरम्भ करके–

जो मेरी अन्तरात्मा है, और तेरी अन्तरात्मा है, और जो अन्य देहों में स्थिर अन्तरात्माएँ हैं, वह पुरुष सब अन्तरात्माओं का साक्षी स्वरूप है, (किसी से कहीं ग्रहण के योग्य नहीं है) और संसारी के सब शिर, भुजा, पाद, आँख, नाक उसी के है । वह भूतों में अकेला विचरता है (प्रकाशता है और स्वतन्त्र सुखस्वरूप है) इस प्रकार महाभारत में भी सर्वात्मत्व ही निर्धारित किया गया है । सर्वात्माविषयक श्रुति भी है कि–

जिस ज्ञानकाल में सब प्राणी आत्म स्वरूप ही निश्चित हो गये, उस काल में उस विज्ञानी की एकत्वदर्शी को कौन मोह और कौन शोक रह सकता है?

इस प्रकार की श्रुति है, इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा में भेद की कल्पना से भी कपिल का तन्त्र(शास्त्र) वेद और वेदानुसारि मनुवचन से विरुद्ध है, केवल स्वतन्त्र प्रकृति की कल्पना ही से वेदादि में विरुद्ध है ऐसी बात नहीं है । रूप के प्रकाशन में सूर्य के समान वेद को अपने अर्थ में निरपेक्ष(स्वतः) प्रमाणता है, और पुरुष के वचनों को मूलान्तरापेक्ष प्रमाणता होती है । वक्ता के स्मरण से व्यवहित प्रमाणता होती है, अर्थात् वक्ता मूलार्थ स्मरण करता है । वहाँ यदि स्मरण यथार्थ होता है, तो स्मरणजन्य वचन प्रमाण होता है, अन्यथा नहीं, इससे श्रुति की अपेक्षा स्मृति की प्रमाणता विप्रक्रश(दूर)

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् २/१/१

है, श्रुति स्मृति में यही भेद है । वेद से विरुद्ध विषय में स्मृति की अनवकाशता की प्राप्तिदोष नहीं है ।[११] किस हेतु से स्मृति क अनवकाशप्रसङ्ग दोष नहीं है–

प्रधान से भिन्न प्रधान के परिणाम रूप से जो स्मृति में कल्पित हैं, वे महत्तत्वाहंकारादि लोक वा वेद में नहीं उपलब्ध(ज्ञान–प्राप्त) होते है । जिसे भूत और इन्द्रियाँ तो लोक और वेद में प्रसिद्धता से स्मृति में प्रतिपादित (स्मृत) हो सकते है । परन्तु लोकवेद में प्रसिद्धता से बाह्य षष्ट इन्द्रियार्थ के समान महत्तत्वादि की स्मृति नहीं हो सकती है । अर्थात् जैसे श्रोत्रादि पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रिय प्रसिद्ध हैं, और शब्दादि पाँच इन्द्रियार्थ प्रसिद्ध हैं। इनसे भिन्न बाह्यज्ञान इन्द्रिय और उसका विषय अप्रसिद्ध है, वैसे ही महत्तत्वादि अप्रसिद्ध हैं, उनका स्मृति से प्रतिपादन ठीक नहीं है जो कहीं(महतः परमव्यक्तम्) इत्यादि वाक्य में महत्तत्वादि के प्रतिपादनपरक के समान श्रवण प्रतीत होते हैं, वे भी अन्यार्थपरक हैं, जिनके(आनुमानिकम्) इत्यादि सूत्र में व्याख्यान हो चुके है । इस प्रकार महत्तत्वादि कार्यविषयक स्मृति के अप्रमाण होने से कारण रूप प्रधान विषयक स्मृति भी अप्रमाण है इससे इसकी अप्रमाणता युक्त है,

---

[११] मनुना च–

सर्व भूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी
वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥ (१२।९१)

इति सर्वात्मदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्दत इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात्। महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' इति विचार्य 'बहवः पुरुषा राजन्सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन–

बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते॥
तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम्॥

इत्युपक्रम्य–

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः ॥
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ॥
विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः।
एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम्॥

इति सर्वात्मतैव निर्धारिता। श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति–

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

(ई.७) इत्येवविधा। अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेद विरुद्धं वेदानुसारिमनुवचनविरुद्धं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति। वेदस्य हि निपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं स्वेरिव रूपविषये। पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं चेति विप्रकर्षः। तस्माद्वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः॥१॥ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् २/१/१

यह इस सूत्र का अभिप्राय है । इससे भी स्मृति का अनवकाशप्रसङ्गदोष नहीं है, सांख्य के तर्क का अवलम्बन करें तो(न विलक्षणत्वात्) इस सूत्र से आरम्भ करके खण्डन करेंगे।[१२]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि आचार्य शङ्कर के अनुसार धर्म के निम्नलिखित पक्ष मनु आदि स्मृतियों में तो हैं किन्तु सांख्य में नहीं–

- ❖ वर्णाश्रम धर्म
- ❖ श्रुति अर्थ में स्मृति की महत्ता
- ❖ ईश्वर में विश्वास
- ❖ सर्वात्मवाद
- ❖ अग्निहोत्र
- ❖ संस्कारादि

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ये ही वे बिन्दु हैं जिनकी सांख्य में अनुपलब्धि के कारण आचार्य शङ्कर ने उसे अवैदिक कहा है । अर्थात् शङ्कर के अनुसार किसी दर्शन के वैदिकत्व के निश्चय हेतु इन बिन्दुओं को कसौटी अथवा मानदण्ड के रूप में अपनाया जाना चाहिए।

<u>आचार्य शङ्करोक्त मानदण्डों की समीक्षा</u> :

आचार्य शङ्कर के द्वारा बताये गये मानदण्डों की एक सूची प्राप्त हो जाने के बाद यह जानना आवश्यक हो जाता है कि क्या आचार्य शङ्कर के द्वारा प्रस्तुत किये गये मानदण्ड सचमुच वैदिकता के मानदण्ड हैं अथवा यह उनका अपना ही विचार है, यह जानना आवश्यक है ।

अब यह प्रश्न समुपस्थित होता है कि के द्वारा प्रस्तुत मानदण्डों की जाँच का अधार क्या है? इस विषय में असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि वैदिकता के इन मानदण्डों की वैधता को जाँचने

---

[१२] प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके वोपलभ्यते। भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम्। अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते। यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्'(ब्र.१।४।१) इत्यत्र। कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात्कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः। तस्मादपि न स्मृत्यवकाशप्रसङ्गो दोषः। तर्कावष्टम्भं तु 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र.२।१।४) इत्यारभ्योन्मथिष्यति ॥२॥ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् २/१/२

का आधार यही हो सकता है कि इन मानदण्ड के पुष्टिकारक वचन स्वयं वेद में उपलब्ध हैं या नहीं। वेदों में इन मानदण्डों का समर्थन है या नहीं, यह जानने के लिये यह आवश्यक है कि मानदण्डों के रूप में स्वीकार की गयी मनु आदि स्मृतियों द्वारा प्रस्तुत की गयी इन अवधारणाओं को उन मनु आदि स्मृतियों से ही सम्यक्प्रकारेण समझा जाये तथा इसके बाद ही वेद में इनके समर्थक वचनों का अन्वेषण किया जाये। इसलिए सर्वप्रथम इन अवधारणाओं को मनु आदि स्मृतियों से गम्भीरता पूर्वक समझने का प्रयास किया जा रहा है । विषय की सुगमता हेतु शङ्करोक्त मानदण्डों के क्रम में फेरबदल किया जा रहा है जो इस प्रकार है–

?. वर्णव्यवस्था

?. श्रुत्यर्थ में स्मृति की महत्ता

?. सर्वात्मभाववाद

?. ईश्वर में विश्वास

यद्यपि आचार्य शङ्कर ने अग्निहोत्र तथा संस्कार इन दो विषयों का अलग से उल्लेख किया है किन्तु ये दोनों वर्णाश्रम में ही अन्तर्भूत हो जाते है । अतः अब इन विषयों को मनु आदि स्मृतियों से समझने का प्रयास जा रहा है–

१. वर्णाश्रम व्यवस्था

मनु आदि स्मृतियों के अनुसार एक सामाजिक की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों को निर्धारित करने में वर्णव्यवस्था का बहुत बड़ा योगदान है । वर्ण चार होते हैं– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इस व्यवस्था की रक्षा के लिये कुछ अन्य व्यवस्थाओं को भी अपनाया गया है जिनमें से सबसे महत्वपूर्ण, जिसका उल्लेख स्वयं आचार्य शङ्कर ने भी किया है और वह है– संस्कार। संस्कार वह व्यवस्था है जो एक सामाजिक की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति की घोषणा करती है । संस्कारों की संख्या के विषय में विभिन्न स्मृतियों में मतभेद है किन्तु यह भेद मात्र इस अर्थ में है कि कुछ स्मृतियों ने दैनिक धार्मिक कर्मों को भी संस्कार का नाम दे दिया, जबकि औरों ने ऐसा नहीं किया । प्रत्येक संस्कार का अपना प्रभाव होता है जिसके द्वारा

वर्णव्यवस्था की रक्षा होती है । इन संस्कारों के एक विशेष प्रभाव को आश्रम व्यवस्था कहा जाता है । आश्रम व्यवस्था वर्णव्यवस्था की रक्षा के लिये कवच का कार्य करने वाली व्यवस्था है । इसके अनुसार एक सामाजिक का सम्पूर्ण जीवन संचालित होता है । आश्रमों की संख्या चार हैं, लेकिन न तो हर वर्ण के लिये एक-एक आश्रम है और न ही यह वर्णों से सर्वथा भिन्न व्यवस्था है । आश्रमों का वितरण प्रत्येक वर्ण को इस प्रकार किया गया है-

१. ब्राह्मण- चारों आश्रम

२. क्षत्रिय व वैश्य- प्रथम तीन आश्रम

३. शूद्र- केवल गृहस्थाश्रम

इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वर्ण संस्था ही आश्रम व्यवस्था एवं संस्कार व्यवस्था की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली व्यवस्था है तथा आश्रम व्यवस्था वास्तव में कोई अलग व्यवस्था न होकर संस्कार व्यवस्था के विभिन्न अङ्गों को दिया गया विशेष नाम मात्र है । इस प्रकार वर्ण संस्था की महत्ता को देखते हुए उसी का सर्वप्रथम विवेचन किया जा रहा है तथा संस्कार आदि व्यवस्थाओं का वर्णन भी इसी के अन्तर्गत यथाप्रसंग किया जायेगा-

१. वर्णकारक कर्म

मनुस्मृति आदि स्मृति वर्णों का केवल विभाजन करती हैं ऐसी बात नहीं है अपितु वे किसी वर्ण विशेष में किसी व्यक्ति के जन्म का कारण उस व्यक्ति के पूर्व जन्म के कर्मों को मानते हुए उसका विवेचन करती हैं कि किस प्रकार के कर्मों को करने से व्यक्ति किस वर्ण विशेष में जन्म ग्रहण करता है । इस तथ्य का विवेचन इस प्रकार है-

१) तामसिक कर्म करने वाले व्यक्तियों के अगले जन्म के लिये विद्यमान जातियों एवं प्रजातियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है । इसके अनुसार तामसिक कर्म करने वालों की मध्यमा श्रेणी में शूद्र, मलेच्छ आदि निन्दित जन आते है । अर्थात् जो व्यक्ति पिछले जन्म में तामसिक कर्म करतें हैं वे ही शूद्र बनते हैं तथा चूँकि तामसिक कर्म निन्दनीय होते हैं इसलिए शूद्र वर्ण भी निन्दा का ही अधिकारी है ।

२) राजसिक कर्म करने वालों की भी तीन ही गतियाँ होती हैं तथा मध्यमा राजसिक गति के अन्तर्गत क्षत्रिय आते है । अर्थात् क्षत्रिय के साथ निन्दा वाली बात लागू नहीं होती।

३) ब्राह्मणों के लिये सीधे ब्राह्मण शब्द से कुछ नहीं कहा गया है अपितु अलग-अलग शब्दों के द्वारा उनके बारे में चर्चा की गयी है ।

४) राजसिक कर्म करने वालों की मध्यमा गति में ही क्षत्रियों के साथ-साथ राजाओं के पुरोहित भी सम्मिलित है ।

५) राजसिक कर्म करने वालों की उत्तम गति के अन्तर्गत वे ब्राह्मण आते हैं जो महान् विद्वानों के अनुचर होते है ।

६) सात्विक कर्म करने वालों की भी तीन गतियाँ होती हैं उनकी प्रथम गति के अन्तर्गत वे ब्राह्मण आते हैं जो तपस्वी, यति एवं विप्र कहे जाते है ।

७) सात्विक करने वालों की मध्यमा गति के अन्तर्गत वे ब्राह्मण आते हैं जो यज्ञ करवाते हैं तथा वे भी आते हैं जो ऋषि कहलाते है ।

लेकिन आश्चर्यचकित कर देने वाली बात यह है कि मनुस्मृति ने यह नहीं बतलाया कि कौन से कर्म करने पर व्यक्ति वैश्य वर्ण में जन्म ग्रहण करता है

२. कर्त्तव्य तथा कर्म

मनुस्मृति आदि में वर्णों के विभिन्न कर्त्तव्यकर्मों को भी निर्धारित किया है जो इस प्रकार है-

१) ब्राह्मण- पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना व देना।

२) क्षत्रिय- प्रजा रक्षण, अस्त्र- शस्त्र धारण करना, दान देना, वेद पढ़ना, तथा यज्ञ करना तथा विषयों में आसक्त न होना।[१३]

३) वैश्य- वाणिज्यकर्म करना, पशुपालन, कृषि करना, दान देना, वेद पढ़ना, तथा यज्ञ करना।[१४]

---

[१३] शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः॥ ८/७९ मनुस्मृति

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियश्च समासतः॥ ८/८९ मनुस्मृति

४) शूद्र– ब्रह्मा ने शूद्रों के लिए यही प्रधान कर्म बताया है कि वे लोग शुद्ध चित्त से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की सेवा करें।[१५]

२. आपद्धर्म

मनु आदि स्मृतियों में सभी वर्णों के आपद्धधर्म बताये गये, जो इस प्रकार हैं–

१) ब्राह्मण– ब्राह्मण अपने कर्मों से आजीविका चलाने में असमर्थ हो जाये तो वह अपने निकटतम निम्नवर्ण अर्थात् क्षत्रिय की आजीविका अपना सकता है ।[१६] तथा जब क्षत्रिय वृति से भी जीविका न चलें तो वह वैश्य की आजीविका भी अपना सकता है ।[१७] विशेष कठिन परिस्थितियों में जीने के लिये वह शूद्र से कच्चा अनाज भी ले सकता है ।[१८]

२) क्षत्रिय– क्षत्रिय आपत्ति के समय में वैश्य की आजीविका अपना सकता है । किन्तु उसे वैश्य के कृषि कार्य व दान लेने का निषेध है ।[१९]

३) वैश्य– वैश्य अपनी आजीविका से निर्वाह न होने पर शूद्रों की आजीविका अपना सकता है ।[२०] तथा जब वर्णविप्लव की स्थिति अर्थात् वर्णव्यवस्था भंग होने लगे तब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को शस्त्र उठा कर वर्णव्यवस्था की रक्षा करनी चाहिये।[२१]

---

[१४] वही

[१५] एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ ८/९१ मनुस्मृति

[१६] अजीवस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्ययन्तरः॥ ८।८१ मनुस्मृति

[१७] उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षामास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम्॥ ८।८२ मनुस्मृति

[१८] नाद्याच्छूतस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः।
आददीताममेवास्मदवृत्तावेकारात्रिकम्॥ ४।२२३ मनुस्मृति

[१९] वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्॥ १०।८३ मनुस्मृति

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वित्तिमभिमन्येत कार्हिचित्॥ १०।९५ मनुस्मृति

४. यौनकर्म

यौनकर्म दो प्रकार के होते हैं–

१. वैध और

२. अवैध

मनुस्मृति के अनुसार वैध यौनकर्म को विवाहित क्रिया कहते हैं और अवैध यौनकर्म को व्यभिचार कहते है । विवाहित क्रिया हेतु एक संस्कार सम्पन्न किया जाता है जिसे विवाह संस्कार कहते है । विवाह स्मृतिगत मानदण्डों के अनुसार दो प्रकार के होते हैं–

१. गुणवत्तानुसार और

२. वर्णानुसार

गुणवत्तानुसार विवाह आठ (८) प्रकार के होते हैं–

१. ब्राह्म विवाह

२. प्राजापात्य विवाह

३. आर्ष विवाह

४. दैव विवाह

५. गान्धर्व विवाह

६. राक्षस विवाह

७. आसुर विवाह और

८. पिशाच विवाह।

---

[२०] वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत्।
अनाचरन्न कार्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान्॥ ८।९८ मनुस्मृति

[२१] शस्त्रं द्विजातिभिग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजानां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥ ८।३४८ मनुस्मृति

वर्णगत विवाह दो प्रकार के होतें हैं–

१. द्विज अहम् को तुष्ट करने वाले विवाह तथा

२. द्विज अहम् को आहत करने वाले विवाह।

द्विज अहम् को तुष्ट करने वाले विवाह को अनुलोम विवाह कहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि प्रति उच्चवर्ण के पुरुषों का अपने वर्ण की स्त्री से अथवा अपने से निम्नवर्ण की स्त्री से विवाह। ये दस प्रकार के होते हैं–

१. ब्राह्मण पुरुष का ब्राह्मण स्त्री से विवाह

२. ब्राह्मण पुरुष का क्षत्रिय स्त्री से विवाह

३. ब्राह्मण पुरुष का वैश्य स्त्री से विवाह।

४. ब्राह्मण पुरुष का शूद्र स्त्री से विवाह।

५. क्षत्रिय पुरुष का क्षत्रिय स्त्री से विवाह।

६. क्षत्रिय पुरुष का वैश्य स्त्री से विवाह।

७. क्षत्रिय पुरुष का शूद्र स्त्री से विवाह।

८. वैश्य पुरुष का वैश्य स्त्री से विवाह।

९. वैश्य पुरुष का शूद्र स्त्री से विवाह।

१०. शूद्र पुरुष का शूद्र स्त्री से विवाह ।

द्विज अहम् को आहत करने वाले विवाह को प्रतिलोम विवाह कहते है । इसमें निम्नवर्णीय पुरुष का विवाह उससे उच्चवर्णीय स्त्री से होता है । ये छः(६) प्रकार के होते हैं–

१) शूद्र पुरुष का ब्राह्मण स्त्री के साथ विवाह।

२) शूद्र पुरुष का क्षत्रिय स्त्री के साथ विवाह।

३) शूद्र पुरुष का वैश्य स्त्री के साथ विवाह।

४) वैश्य पुरुष का ब्राह्मण स्त्री के साथ विवाह।

५) वैश्य पुरुष का क्षत्रिय स्त्री के साथ विवाह।

६) क्षत्रिय पुरुष का ब्राह्मण स्त्री के साथ विवाह।

अब यौनकर्म के दूसरे महत्त्वपूर्ण पक्ष पर किया जाता है वह है– अवैध यौनकर्म अर्थात् व्यभिचार। वर्णव्यवस्था यहाँ भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है । मनु आदि स्मृतियों की व्यवस्था है कि सभी व्यभिचार दण्डनीय नहीं होते हैं, बल्कि व्यभिचार से सम्बन्धित मामले में दण्ड देने के लिये भी वर्णानुसार व्यभिचार की अनुलोमता और प्रतिलोमता पर विचार करके ही दण्ड निश्चित किया जाये, जो इस प्रकार है–

१) राजा को उचित है कि कन्या की बिना इच्छा से उसको दूषित करने वाले पुरुष का शीघ्र वध करें, किन्तु अपनी वर्ण की कन्या से उसकी इच्छानुसार गमन करने वाले मनुष्य का वध नहीं करें।[२२]

२) सम्भोग के लिये अपने से ऊँची वर्ण के पुरुष की सेवा करने वाली कन्या को दण्ड़ित नहीं करें, किन्तु नीच वर्ण के पुरुष की सेवा करने वाली कन्या को(जब तक उसका काम निवृत्त नहीं हो तब तक) रोक कर के घर में रखे।[२३]

३) ऊँची वर्ण की कन्या से प्रसंग करने वाले पुरुष का राजा वध करें अर्थात् शारीरिक दण्ड दें और समान वर्ण की कन्या से प्रसंग करने वाले पुरुष से, यदि कन्या के पिता की इच्छा हो तो उसको, कन्या का दाम दिलायें।[२४]

४) राजा को उचित है कि जो स्त्री अपनी वर्ण और अपने गुण के घमण्ड से अपने पति का उल्लंघन करके परपुरुष के साथ व्यभिचार करे उसको बहुत लोगों के सामने कुत्तों को खिला दे

---

[२२] योऽकमां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधवमर्हति।
सकामां दीषयंस्युल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः॥ ८/३६४, मनुस्मृति

[२३] कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत्।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे॥ ८/३६५, मनुस्मृति

[२४] उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति।
शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि॥ ८/३६६, मनुस्मृति

और उससे गमन करने वाले पापी पुरुष को लोहे की तप्त शय्या पर सुलाकर काठ और आग से जला दें।[२५]

५) एक बार दण्ड़ित होकर एक वर्ष के भीतर फिर परस्त्री से गमन करे या व्रात्य अथवा चण्डाल की स्त्री से गमन करे उसको राजा दुगुना दण्ड दें।[२६]

६) राजा को चाहिए कि शूद्र द्विज वर्ण अरक्षिता स्त्री से गमन करे तो उसका गुप्तांग कटवा दे और उसकी सारी सम्प्पत्ति हरण कर ले और द्विज वर्ण की रक्षिता स्त्री से गमन करे तो उसकी सब सम्पत्ति हरण करके उसको मरवा डाले।[२७]

७) वैश्य की सब सम्पत्ति हरण कर ले और उसको एक वर्ष कारागार में रखे, क्षत्रिय पर एक हजार पण दण्ड करे और गधे के मूत्र से उसका सिर मुण्डवा दे।[२८]

८) अरक्षिता ब्राहमणी से गमन करने वाले वैश्य पर पाँच सौ पण और अरक्षिता ब्राह्मणी से गमन वाले क्षत्रिय पर एक हजार पण दण्ड करे।[२९]

९) वैश्य अथवा क्षत्रिय यदि रक्षिता ब्राह्मणी से गमन करे तो उनको शूद्रों की भाँति दण्ड़ित करे अथवा चटाई में लपेट कर जला दे।[३०]

१०)ब्राह्मण यदि रक्षिता ब्राह्मणी से बल पूर्वक गमन करे तो उस पर एक हजार पण और ब्राह्मणी को इच्छानुसार उससे गमन करे तो उस पर पाँच सौ पण दण्ड करे।[३१]

---

[२५] भर्त्तारं लङ्घेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥ ८/३८१, मनुस्मृति

[२६] संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः।
व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु॥ ८/३७३, मनुस्मृति

[२७] शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्।
अगुणमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते॥ ८/३७४, मनुस्मृति

[२८] वैश्यः सर्वस्वदण्ड्ः स्यात्संवसरनिरोधतः।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति॥ ८/३७५, मनुस्मृति

[२९] ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ।
वैश्यं पञ्चाशतं कुर्यात्क्षात्रियं तु सहस्रिणम्॥ ८/३७६, मनुस्मृति

[३०] उभावपि तु तावेव ब्राहमण्या गुप्तया सह।
विलुप्तौ शूद्रवद्दण्डयो दग्धव्यौ वा कटाग्निना॥ ८/३७७, मनुस्मृति

[३१] सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः॥ ८/३७८, मनुस्मृति

TH-16162

Jawaharlal Nehru University Library

११)राजा को चाहिये कि यदि वैश्य की रक्षिता स्त्री से गमन करे अथवा क्षत्रिय रक्षिता से गमन करे तो जो दण्ड अरक्षिता ब्राह्मणी से गमन करने वाले के लिये कहा गया है वही दण्ड इन पर करे।[३२]

१२)ब्राहमण यदि रक्षिता–क्षत्रिय अथवा रक्षिता वैश्य से गमन करे अथवा क्षत्रिय या वैश्य रक्षिताशूद्रा से गमन करे तो उससे एक हजार पण दण्ड ले।[३३]

१३)अरक्षिता क्षत्रिया, वैश्या अथवा शूद्रा से गमन करने वाले ब्राह्मण से पाँच सौ पण का दण्ड लेवे और धोबी आदि किसी अन्य वर्ण की स्त्री से गमन करने वाले ब्राह्मण पर एक हजार पण दण्ड करे।[३४]

१४) राजा को उचित है कि ब्राह्मणी से व्यभिचार करने वाले शूद्र को गाण्डरतृण में लपेट कर आग में डाल देवे और उस ब्राह्मणी का सिर मुण्डवाकर व उसके शरीर में घी लगाकर उसको नंगी करके काले गधे पर चढाकर प्रधान सडक पर छोड दे ऐसा करने पर वह शुद्ध हो जाती है।[३५]

१५)ब्राह्मणी से व्यभिचार करने वाले क्षत्रिय को शरपततृण में लपेट कर आग में डाल देवे और ब्राह्मणी का सिर मुण्डवा कर उसके सम्पूर्ण शरिर में घी लगाकर उसको नंगी करके और लाल गधे पर चडा के प्रधान सडक पर छोड देवे ऐसा होने वह शुद्ध हो जाती है, ऐसा शास्त्र से जाना जाता है ।[३६]

---

[३२] वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत्।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः॥ ८/३८२, मनुस्मृति

[३३] सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः सहस्रो वै भवेद्दमः॥ ८/३८३, मनुस्मृति

[३४] अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राहम्णो व्रजन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्॥ ८/३८५, मनुस्मृति
क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चाशतं दमः।
मूत्रेण मौण्डयमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा॥ ८/३८४, मनुस्मृति

[३५] शूद्रश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेद्धीरणैर्वेष्टीयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येत्॥१॥
ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषा समभ्यज्य नग्नां कृष्णखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते॥ २९/२, वसिष्टस्मृति

[३६] राजन्यश्चेद्ब्राहम्णीमभिगच्छरपत्रैर्वेश्:टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येद्ब्राह्मण्याः शिरोवपन करयित्वा सर्पिषा समभ्यज्य नग्नां रक्तखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते॥ २९/५, वसिष्टस्मृति

१६) यदि वैश्य क्षत्रिया से और शुद्र वैश्या अथवा क्षत्रिया से व्यभिचार करे तो इसी प्रकार से पुरुषों और स्त्रियों को दण्ड देना चाहिए।[३७]

५. अपराध एवं दण्ड

मनु आदि स्मृतियाँ अपराध और दण्ड के लिये भी वर्णों की भूमिका को स्थापित करती है । यहाँ भी अनुलोमता व प्रतिलोमता के धारणाएँ अपनी भूमिका का शक्ति के साथ निर्वहन करती है । अर्थात् यह तथ्य महत्त्वपूर्ण नहीं होता कि अपराध की प्रकृति क्या है, क्योंकि अपराध की अपनी कोई प्रकृति यहाँ स्वीकृत नहीं है । इसलिए अपराध की प्रकृति के अनुसार दण्ड निर्धारण का सिद्धान्त यहाँ स्वीकार्य है ही नहीं। बल्कि इस न्यायपूर्ण सिद्धान्त के ठीक विपरीत यहाँ दण्ड का निर्धारण व्यक्ति के उस सामाजिक समुदाय के आधार पर होता है जिसकी सदस्यता उसे अपने जन्म के साथ ही मिली होती है अर्थात् दण्ड निर्धारण भी अपराध करने वाले के वर्ण के अनुसार ही निश्चित होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक ही प्रकृति के अपराध के लिये अलग-अलग वर्ण के व्यक्तियों को अलग-अलग दण्ड निर्धारित होता है । मनु आदि स्मृतियों के अनुसार इसकी एक झलक इस प्रकार है-

१) ब्राह्मण को कठोर वचन कहने वाले क्षत्रिय पर सौ पण और वैश्य पर एक सौ पचास अथवा दो सौ पण का राजा दण्ड करे और शूद्र को ताडनादि शारीरिक दण्ड दे।[३८]

२) ब्राह्मण यदि क्षत्रिय को ऐसा कहे तो उस पर पचास पण, वैश्य को ऐसा कहे तो पच्चीस पण और शूद्र को ऐसा कठोर वचन कहे तो उस पर बारह पण दण्ड करे।[३९]

३) ब्राह्मण ब्राह्मण को, क्षत्रिय क्षत्रिय को, और वैश्य वैश्य को कठोर वचन कहे तो राजा उन पर बारह पण करे और बहुत कठोर वचन कहे तो इससे दुगुना दण्ड लेवे।[४०]

---

[३७] एवं वैश्यो राजन्यायां शूद्रश्च राजन्यावैश्ययोः॥ २९/६, वसिष्टस्मृति

[३८] शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति॥ ८/२६७ मनुस्मृति

[३९] पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः॥ ८/२६८, मनुस्मृति

[४०] सवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत्॥ ८/२६९, मनुस्मृति

४) यदि शूद्र द्विज वर्ण को पातक उत्पन्न करने वाला कठोर वचन कहे तो राजा उसकी जीभ कटवा डाले।[४१]

५) यदि नाम और वर्ण कहकर द्विज वर्ण की निन्दा करे तो दस अङ्गुल को जलती हुई लोहे की शलाका उसके मुख में डाल दे।[४२]

६) यदि अहंकार के साथ ब्राह्मण को धर्मोपदेश करे तो राजा उसके मुख और कान में तेल डलवा दे।[४३]

७) ब्राह्मण और क्षत्रिय में परस्पर गाली-गलोच होने पर दण्ड का विधान जानने वाला राजा ब्राहण पर दो सौ पचास पण और क्षत्रिय पर पाँच सौ पण दण्ड करें।[४४]

८) इसी प्रकार से वैश्य और शूद्र में परस्पर गाली-गलोच होने पर शूद्र पर पाँच सौ पण दण्ड करें, जीभ नहीं कटवाये।[४५]

९) अन्त्यज मनुष्य जिस अङ्ग से श्रेष्ट वर्ण के मनुष्य को मारे राजा उसका वही अङ्ग कटवा दे, ऐसी मनु की आज्ञा है ।[४६]

१०) राजा को चाहिये कि वह श्रेष्ट वर्ण को मारने के लिये लाठी उठावे तो उसका हाथ कटवा डाले यदि क्रोध करके लात से मारे तो उसका पैर कटवा दे।[४७]

---

[४१] एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दरुणया क्षिपन्।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः॥ ८/२७०, मनुस्मृति

[४२] नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः॥ ८/२७१, मनुस्मृति

[४३] धर्मोपदेशं दर्पेण विप्रमाणस्य कुर्वतः।
तप्तमासेचयेत्तैअलं वक्त्रे शोत्रे च पार्थिवः॥ ८/२७२, मनुस्मृति

[४४] ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता।
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः॥ ८/२७६, मनुस्मृति

[४५] विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः।
छेदवर्ज प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः॥ ८/२७७ मनुस्मृति

[४६] येनकेनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम्॥ ८/२७९, मनुस्मृति

[४७] पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति।
पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ ८/२८० मनुस्मृति

११) यदि नीच वर्ण का मनुष्य उच्च वर्ण के आसन पर बैठे तो राजा उसके कमर में तप्त लोहे का चिह्न करके अपने राज्य से निकाल दे अथवा उसके कमर का मांस पिण्ड कटवा दे।[४८]

१२) यदि वह अहंकार से श्रेष्ठ के शरीर पर थूक दे और उसके दोनों ओष्ठों को और मूत्र कर दे तो उसके लिङ्ग को अधोवायु कर देवे तो उसकी गुदा को कटवा दे।[४९]

१३) राजा को उचित है कि ब्राह्मण का वध करने वाले क्षत्रिय आदि का वध करे और उनका सब धन हरण कर ले।[५०]

१४) अपने समान वर्ण अथवा अपने से नीच वर्ण के मनुष्य का वध करने वाले को उनके बल के अनुरूप दण्डित करे।[५१]

६. शिक्षा

मनु आदि स्मृतियों के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था भी विशेषाधिकार की चीज है । यहाँ शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार भी सिर्फ विशेषाधिकार सम्पन्न वर्णों(द्विजों) अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को ही प्राप्त है । इसीलिये शिक्षा प्रारम्भ करने के लिये होने वाले संस्कार(उपनयन संस्कार) से केवल शूद्र वर्ण को वंचित किया गया है । साथ ही नारी को भी शिक्षा से वंचित किया गया है । इतना ही नहीं जिन वर्णों को यह अधिकार प्राप्त है उन में भी शिक्षा के प्रारम्भक संस्कार के लिये अनुलोमतया उम्र का अन्तर किया गया है ताकि वैश्य की अपेक्षा क्षत्रिय और वैश्य व क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण की बौद्धिक श्रेष्ठता पीढी दर पीढ़ी चलती ही रहे। मनु आदि स्मृतियों के अनुसार इसका विवरण इस प्रकार है–

१) सृष्टिकर्त्ता ने वेद के गायत्री छन्द से ब्राह्मण को, त्रिष्टुप् छन्द से क्षत्रिय को और जगती छन्द से वैश्य को रचा था, किन्तु द्विज की सेवा में तत्पर शूद्र को किसी छन्द से नहीं रचा, इसी कारण से शूद्र संस्कार के अयोग्य समझा गया है ।[५२]

---

[४८] सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्त्तयेत् ॥ ८/२८१, मनुस्मृति

[४९] अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ ८/२८२, मनुस्मृति

[५०] क्षत्रियादीनां ब्राह्मणवधे वधः सर्वस्वहरणं च ॥ १०/२०, बोधयनस्मृति

[५१] तेषामेव तिल्यापकृष्टवधे यथाबलमनुरूपान्दण्डान्प्रकल्पयेत् ॥ १०/२१, बोधयनस्मृति

[५२] गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत् त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते॥ ४/३ वसिष्टस्मृति

२) स्त्रियों की देह शुद्धि के लिये उपनयन को छोड़कर यथा समय में बिना मन्त्र का उनका सब संस्कार करना चाहिये।[५३]

३) स्त्रियों के लिये विवाह संस्कार ही उपनयन के समान निज पति की सेवा ही गुरुकुल में वास के तुल्य और गृहकार्य ही प्रातःकाल और संध्या के अग्निहोत्र के समान है ।[५४]

४) वेद में लिखा है कि द्विज का पहला जन्म माता से, दूसरा जन्म उपनयन संस्कार होने से और तीसरा जन्म यज्ञ शिक्षा पाने से होता है ।[५५]

५) इनमें मेखला बन्धन युक्त उपनयन संस्कार रूपी ब्रह्म जन्म के समय गायत्री माता कहलाती है और आचार्य पिता कहा जाता है ।[५६]

६) वेद विद्या दान करने से आचार्य पिता कहा गया है । जनेऊ होने से पहले मनुष्य को कोई कर्म का अधिकार नहीं रहता है ।[५७]

७) बिना जनेऊ हुए श्राद्ध के मंत्रों के सिवाय कोई वेद मंत्र नहीं उच्चारण करना चाहिए, जब तक वेद आरम्भ नहीं होता है तब तक द्विज शूद्र के समान रहते है ।[५८]

---

[५३] अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।

संस्कार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥ २/६६ मनुस्मृति

[५४] वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहर्थोऽग्निपरिक्रिया॥ २/६७॥ मनुस्मृति

[५५] मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।

तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥ २/१६९, मनुस्मृति

[५६] तत्र-यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिन्हितम्।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ २/१७०, मनुस्मृति

[५७] वेदप्रदानाचार्यां पितरं परिचक्षते।

न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्॥ २/१७१, मनुस्मृति

८) सब आचार्यों का मत है कि ब्राह्मण का जनेऊ ७ वें अथवा ८ वें वर्ष में करना चाहिए।[५९]

वर्णव्यवस्था की वैदिकता की समीक्षा

वर्णव्यवस्था के मनु आदि स्मृतियों में उपलब्ध विवरण के एक सूक्ष्म एवं पर्याप्त अध्ययन होने से उसके स्वरूप का समधिगमन होने के बाद अब यह जानने का प्रयास किया जा रहा है कि क्या वास्तव में वर्णव्यवस्था, संस्कार, अग्निहोत्र का समर्थन वेदों में भी प्राप्त होता है अथवा नहीं। वेदों के अध्ययन से इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं–

१) ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से चातुर्वर्णव्यवस्था का कोई उल्लेख नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद में चारों वर्णों का वर्णव्यवस्था के अङ्गों के रूप में एक बार भी उल्लेख नहीं हैं। यहाँ यह आपत्ति समुस्थापित की जा सकती है कि जब ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चारों वर्णों का एक साथ उल्लेख है, तो यह कहना कहाँ तक ठीक है कि ऋग्वेद में वर्णव्यवस्था का उल्लेख नहीं है । यहाँ ये तथ्य अवधातव्य हैं–

२) वेदों के अधिकतर विद्वानों ने पुरुषसूक्त को प्रक्षिप्तांश माना है, जो बाद में पुरोहितों ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये ऋग्वेद में डाल दिया ।

३) यदि इस सूक्त को प्रक्षिप्तांश न भी माना जाय तो भी इससे स्पष्ट रूप से यह सिद्ध नहीं होता है कि यह समग्र वर्णवयवस्था का ही द्योतक है । क्योंकि इसमें क्षत्रिय वर्ण का उल्लेख नहीं है अपितु वहाँ केवल राजन्य शब्द है जिसका अर्थ है राजा की क्षमता, राजा से सम्बन्धित लोग व राजा। यदि कहा जाये कि राजा से सम्बन्धित लोगों का अर्थ क्षत्रिय ही है तो यह भी ठीक नहीं

---

[५८] नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनदृते।

शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते॥ २/१७२, मनुस्मृति

[५९] ब्राह्मणस्याष्टमे वर्षे विहितं चोपनयनम्।

सप्तमे चाथ वा कुर्यात्सर्वाचार्यमतं भवेत्॥१॥ उपनयन प्रकरण, मनुस्मृति

है क्योंकि ऋग्वेद के अनुसार युद्ध करने हेतु किसी विशेष समुदाय का निर्धारण उपलब्ध नहीं होता कि लड़ने का कार्य केवल राजा से सम्बन्धित लोग ही करेंगे।

४) पुरुषसूक्त में उल्लिखित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वाली चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को इसलिए भी मानना कठिन है कि ऋग्वेद में अनेक कबीलों क उल्लेख मिलता है जिनमें दास, आर्य, दस्यु, यदु, भरत व तृत्सु आदि प्रमुख है । यदि पुरुषसूक्तीय वर्णव्यवस्था को ऋग्वेदकालीन स्वीकार किया जाये तो सर्वप्रथम यह प्रश्न उठेगा कि वर्णव्यवस्था किस कबीले की व्यवस्था थी, क्योंकि सबसे रोचक बात तो यह है कि अन्य कबीले इस व्यवस्था को उतना महत्त्व नहीं देते थे। यहाँ तक कि दास और दस्यु तो आर्य सिद्धन्तों को सिरे से खारिज करते थे। फिर यह भी निश्चित नहीं है कि वेदों में केवल आर्यों से सम्बन्धित वर्णन ही मिलता है क्योंकि ऋग्वेद में यह भी कहा गया है –

५) *हे वज्र के समान सारपूर्ण एवं बाण के समान शत्रुनाशक मन्यु! यजमान तुम्हारी पूजा करता है, वह ओज एवं बल धारण करता है एवं संग्राम में सभी शत्रुओं को जीतता है, तुम्हारी सहायता से हम दास और आर्य दोनों प्रकार के शत्रुओं को हरावें। तुम शक्ति के उत्पादक एवं शक्तिशाली हो।* [६०]

६) पुरुषसूक्त में वर्णित इस तथ्य को मानना इसलिए भी कठिन है क्योंकि न तो पुरुषसूक्त से पहले और न पुरुषसूक्त के बाद ही सम्पूर्ण ऋग्वेद में एक बार भी शूद्र शब्द को परिभाषित नहीं किय गया है तथा पुरुषसूक्त में इसका उल्लेख परिभाषिक शब्द के रूप में हुआ है ।

७) ऋग्वेद के व्याख्या ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में यह उल्लेख मिलता है कि कवष ऐलूष नामक एक जुआरी था जो जुए में अपना सब कुछ हार गया और अपनी बर्बादी के परिणाम स्वरूप जब उसे चीजें समझ में आयीं तो उसने लोगों को जुआ खेलने से होने वाली बर्बादी का वर्णन

---

[६०] परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः।

ययातेर्यें नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रवन्तु नः॥ १०/६३/१ ऋग्वेद

करते हुए कभी जुआ न खेलने का उपदेश देना शुरु किया तो समाज के अभिजात वर्ग के लोगों ने उसे शूद्र कहकर पुकारना शुरु कर दिया ।[६१] इस वर्णन से इतना ही पता चलता है कि कुरीतियों से लड़ने वाले समाज सुधारक व्यक्ति को शूद्र कहकर निन्दित किया गया । यदि इस व्याख्या से परिभाषित शूद्र शब्द को पुरुषसूक्त की व्याख्या के लिये स्वीकार किया जाये तो इससे यही स्पष्ट होता है कि पुरुषसूक्त का यह मंत्र समाज सुधारकों को दी गयी गाली के सिवाय और कुछ नहीं है ।

८) मनुवर्णित वर्णानुसार कार्य विभाजन भी ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं होता है अपितु इसके ठीक विपरीत वहाँ एक ही परिवार के अलग-अलग सदस्यों द्वारा अलग-अलग कार्य किये जाने का उल्लेख मिलता है ।[६२]

९) मैं स्तोता हूँ, मेरा पुत्र वैद्य है और मेरी पुत्री कंडों पर जौ भूनने वाली है । जिस प्रकार गायें गौशाला में अलग-अलग घूमती है, उसी प्रकार हम सब धन की इच्छा से अलग-अलग कार्य करते है । हे सोम! तुम इन्द्र के लिये रस गिराओ।[६३]

१०) इतना ही नहीं यहाँ विभिन्न कार्य करने वालों में ब्राह्मण का अभिलषिततम कार्य वेदाध्ययनादि भी नहीं है अपितु यजमान की प्राप्ति ही उसका अभीष्टतम कार्य है ।[६४]

११) हे सोम! हमारे तथा अन्य लोगों के कर्म विविध प्रकार के होते है । बढ़ई लकड़ी काटना चाहता है एवं ब्राह्मण सोमरस निचोड़ने वाले यजमान को चाहता है । हे सोम! तुम इन्द्र के लिये रस बहाओ।[६५]

---

[६१] कवष ऐलूष का यह उपदेश ऋ. के १० वें मण्डल में उपलब्ध है।

[६२] कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गाइव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ९।११२।३ ऋग्वेद

[६३] कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गाइव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ९।११२।३ ऋग्वेद

[६४] नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ९।११२।१, ऋग्वेद

१२) ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, सन्यासादि आश्रमों का उल्लेख भी उस रूप में नहीं है जिस रूप में मनु आदि स्मृतियों में उल्लेख मिलता है । जैसे ऋग्वेद के अनुसार ब्रह्मचर्य का उद्देश्य केवल शिक्षा ग्रहण करना मात्र नहीं है बल्कि उस समय पत्नि न मिलने की विवशता के कारण ही ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता था–

- वानप्रस्थ व संन्यास की तो उस तरह से कोई अवधारणा भी उपलब्ध नहीं होती है । यह तथ्य ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १७९ सूक्त से स्पष्ट हो जाता है ।[६६] :
- *लोपामुद्रा बोली–"हे अगस्त्य! मैं पूर्वकालिक अनेक वर्षों से रात और दिन उषा काल में शरीर को जीर्ण करती हुई तुम्हारी सेवा में लगी रही हूँ । इस समय बुढापा मेरे अंगों का सौन्दर्य नष्ट कर रहा है । क्या इस अवस्था में पुरुष नारियों के साथ समागम न करें?*[६७]
- *हे अगस्त्य! प्राचीन महऋषियों ने सत्य को प्राप्त किया । वे देवों के साथ सत्य बोलते थे। उन्होंने भी पत्नियों में वीर्य का स्खलन किया और इस कार्य को समाप्त नहीं किया । तपस्या करती हुई पत्नियाँ भोग–समर्थ पतियों के समीप जाती थी।*[६८]

---

[६५] नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।

तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ९।११२।१, ऋग्वेद

[६६] १/१७९ ऋग्वेद

[६७] पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाप्यू नु पत्नीर्षणो जगम्युः॥ १/१७९/१ ऋग्वेद

[६८] ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नू पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः॥ १/१७९/२ ऋग्वेद

- *अगस्त्य ने उत्तर दिया– "हे पत्नी! हम लोग व्यर्थ ही नहीं थके है । हमारी तपस्या प्रसन्न देव हमारी रक्षा करते है । हम सभी भोगों को भोगने में समर्थ है । यदि हम और तुम इच्छा करें तो इस संसार में अब भी सुखसंभोग के सैकडों साधन प्राप्त कर सकते है ।"*[६९]

- *हे पत्नी! मैं मन्त्रों के जप और ब्रह्मचर्य पालन में लगा रहा। फिर भी न जाने किस कारण मुझ पति के साथ संगत हो जाओ। तुम अधीर नारी बन कर मुझ महाप्राण पुरुष का भोग करो।*[७०]

- *शिष्य कहने लगा–"उदर में पिया हुआ सोमरस मुझे सब पापों से छुडाकर सुखी करें, यह प्रार्थना मैं सच्चे मन से कर रहा हूँ । मैंने जो पाप किया है, उससे मेरी रक्षा हो, क्यों मनुष्य मन में बहुत सी कामनाएँ करता है ।"*[७१]

- *मेरे गुरु अगस्त्य ने यज्ञों द्वारा अभिमत फल एवं बहुत सी संतानों की इच्छा की। उन्होंने काम और संयम दोनों उत्तम गुण प्राप्त किये एवं देवों से सच्चा आशीर्वाद पाया।*[७२]

१३) यज्ञ का उल्लेख ऋग्वेद में अवश्य मिलता है किन्तु उस यज्ञ के लिये आश्रम एवं वर्ण सिद्धान्तों का पालन नहीं किया जाता था । ऋग्वेद में ब्राह्मण व राजन्य में भी वैसा भेद नहीं मिलता जैसा मनु वर्णव्यवस्था में उपलब्ध होता है ।

---

[६९] न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत्स्पृधो अभ्यश्नवाव।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत्सम्ञ्चा मिथुनावभ्यजाव॥ १/१७९/३ ऋग्वेद

[७०] नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्र वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥ १/१७९/४ ऋग्वेद

[७१] इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप ब्रुवे।
यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळतु पुलुकामो हि मर्त्यः॥ १/१७९/५ ऋग्वेद

[७२] अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम॥ १/१७९/६ ऋग्वेद

१४) यजुर्वेद में चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का मनुवर्णित वर्णव्यवस्था से मिलता-जुलता उल्लेख उपलब्ध होता है । इससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उत्तर-ऋग्वेदिक काल में वर्णव्यवस्था अस्तित्व में आ गयी थी। इसलिए **मनु आदि की वर्णव्यवस्था यजुर्वेदादि के अनुसार तो वैदिक है किन्तु ऋग्वैद के अनुसार वैदिक नहीं।** वर्णव्यवस्था स्वयं यजुर्वेद के शब्दों में इस प्रकार है:

१) ब्रह्म के लिए ब्राह्मण, क्षत्र के लिए राजन्य, मरुतों के लिए वैश्य और तप के लिए शूद्र कर्त्तव्य उपयुक्त है ।[७३]

२) यजुर्वेद में इसके अतिरिक्त भी कई स्थानों पर सभी वर्णों का उल्लेख उपलब्ध होता है ।[७४]

३) इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यजुर्वेदोक्त वर्णव्यवस्था एक जटिल व्यवस्था थी बल्कि यजुर्वेदकालीन वर्णव्यवस्था एक ढीला-ढाला ढाँचा मात्र थी क्योंकि इसमें केवल कार्यों का ही उल्लेख मिलता है । वर्णव्यवस्था को लागू करने के लिये शक्ति प्रयोग का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

अथर्ववेद के अध्ययन से पता चलता है कि अथर्ववेदकालीन समाज में भलेही अन्य वर्णों के अधिकार क्षेत्र के बारे में उतना कुछ नहीं कहा गया है किन्तु ब्राह्मणों के वर्चस्व की स्थापना का प्रयास अवश्य उपलब्ध होता है जैसा कि अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड के १७,१८,व १९ वें सूक्तों में उल्लिखित है । जो इस प्रकार है-

---

[७३] ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भयो वैश्यं तपसे शूद्रं
तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयायाऽ
अयोगूं कामाय पँश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम्॥ यजुर्वेद ३०/५ यजुर्वेद

[७४] मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो
वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो वस्तो वयो
विबलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो
व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्दः सिँन्हो वयश्छदिश्छन्दः पष्ठवाड् वयो
बृहती छन्दऽउक्षा वयः ककुप् छन्द'ऽऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः॥ १४/९ यजुर्वेद
३१/११ यजुर्वेद
२६/२ यजुर्वेद

१) ब्राह्मणी का पति ब्राह्मण ही हो सकता है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। सूर्य देव पाँच प्रकार के मानव–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य , शूद्र और निषाद यह कहते हुए दमन करें।[७५]

२) जिस राज्य में ब्राह्मण की पत्नी और गाय को बाधा पहुँचाई जाती है, वहाँ भाँतिभाँति के कल्याण करने वाली पत्नी शैया पर शयन नहीं करती।[७६]

३) जिस राज्य में ब्राह्मण की पत्नी को अचेत करके रोका जाता है, उस राज्य में विशाल मस्तक वाले पुरुष जन्म नहीं लेते।[७७]

४) जिस राष्ट्र में ब्राह्मण की पत्नी को अचेत करके रोका जाता है, उस राष्ट्र में दूध दुहने की इच्छा करने वाले थोड़ा दूध भी नहीं दुह पाते।[७८]

५) जिस राष्ट्र में जाया अर्थात् पत्नी से रहित ब्राह्मण पाप की भावना से रात्रि निवास करता है, उस राष्ट्र के स्वामी के यहाँ गाय कल्याण करने वाली नहीं होती और बैल गाड़ी या रथ के जुए को नहीं खींचते ।[७९]

६) हे राजन्! देवों ने यह गाय तुमको भक्षण करने के लिये नहीं दी है । ब्राह्मण की गाय अखाद्य है । इसे खाने की इच्छा मत कर ।[८०]

---

[७५] ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्योऽ न वैश्यः।
तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥ ५।१७।९ अथर्ववेद

[७६] नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ ५।१७।१२ अथर्ववेद

[७७] न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन्वेश्मनि जायते।
यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ ५।१७।१३ अथर्ववेद

[७८] नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते।
यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ ५।१७।१७ अथर्ववेद

[७९] नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्।

विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया॥ ५।१७।१८ अथर्ववेद

[८०] नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे।

मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्॥ ५।१८।१ अथर्ववेद

७) इन्द्रियों को वश में न करने वाला एवं आत्मपराजित राजा ब्राह्मण की गाय का भक्षण करता है, वह पापी राजा जीवित नहीं रहता है ।[८१]

८) जो राजा ब्राह्मण के पदार्थों का भक्षण करता है, वह विष पीता है और अपना क्षत्र तेज गवाँ देता है । जिस प्रकार क्रोध से भरे हुए अग्निदेव सब कुछ नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण के पदार्थों को खाने योग्य समझने वाला राजा नष्ट हो जाता है ।[८२]

९) जिस प्रकार अपने शरीर को कोई नष्ट नहीं करना चाहता है, उसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी ब्राह्मण का नाश भी नहीं करना चाहिए। सोम ब्राह्मण का सम्बन्धी है आर इन्द्र ब्राह्मण के श्राप को पूर्ण करते है ।[८३]

१०)राजा द्वारा डाली गयी विपत्ति आठ पैरों, चार आँखों, चार कानों, चार ठोडियों, दो मुखों और दो जीभों वाली बन कर उसके राज्य को समाप्त कर देती है ।[८४]

अथर्ववेदकालीन समाज में यज्ञ भी जटिल होने लगे थे जैसा कि निम्नलिखित मन्त्रों में उल्लिखित है:

१) संसार के द्वारा सिन्धु को द्विलोक की ओर प्रेरित किया गया । ज्ञानियों ने रथन्तर में सूर्य का दर्शन किया । उन्होंने गायत्र यज्ञ की तीन समिधाएं बताईं। इसके पश्चात् वे अपनी महत्ता से ही वृद्धि को प्राप्त हुए।[८५]

२) जिस प्रकार सोमपीथ और मधुपर्क नामक यज्ञ क्रियाएँ करने से यश प्राप्त होता है, उसी प्रकार वरण वृक्ष से निर्मित मणि मुझे यश और ऐश्वर्य प्रदान करें। [८६]

---

[८१] अक्षदृग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः॥ ५।१८।२ अथर्ववेद

[८२] निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्या॥ ५।१८।४ अथर्ववेद

[८३] न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥ ५।१८।६ अथर्ववेद

[८४] शतापाष्ठा नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन्।
अन्नं यो ब्राह्मणां मल्वः स्वाद्वदीति मन्यते॥ ५।१८।७ अथर्ववेद

[८५] ९/१५/३ यजुर्वेद

[८६] एवां मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु।
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १०/३/२१ अथर्ववेद

३) मैं यज्ञ कर्म करने वाले को खोज रहा हूँ तथा परिष्कृत सोमरस को पी रहा हूँ । इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है ।[८७]

४) धरती और आकाश मेरे यज्ञ के बलिदान वाले खम्बे अर्थात् यूप को भलीभाँति रंगे। दिखाई देते हुए ये सूर्य यज्ञ के यूप को रंगे। मन्त्र का पालन करने वाले देव मेरे यूप को रंग । सब के प्रेरक सवितादेव इस यूप को रंगा हुआ बनाएं ।[८८]

५) हे यजमान! तेरे द्वारा किया जाता हुआ यह ब्रह्मौदनासव नाम का यज्ञ हजार शरीर वाला, अमृतमयी सौ धाराओं से युक्त, देवों तक पहुँचाने वाला और पल के रूप में स्वर्ग तक पहुँचाने वाला है । यह ब्रह्मौदन खाये जाने पर भी कभी समाप्त नहीं होता है । हे ब्रह्मौदन! मैं अपने सजातीय पुरुषों को तेरे सामने खडा करता हूँ । ***इन्हें पुत्र, सेवक आदि प्रजा के रूप में मेरी अपेक्षा हीन बना।*** यह सब यज्ञ केवल तुझे ही सुखी एवं उत्तम बनाए।[८९]

६) उद्गीथ के बाद गाये जाने वाले सामवेद के मन्त्र, प्रतिहार तथा सोमयागों की समाप्ति के मन्त्र, विश्वजित एवं अभिजित नाम के यज्ञ, एक दिन में होने वाले वाला सोमयाग साहन, अतिरात्र नाम के जो सोमयाग यज्ञ शेष रूपी ब्रह्म में स्थित हैं, वे सब मुझ में हों अर्थात् मेरे द्वारा किये जाएं।[९०]

७) अश्वमेध अथवा पुरुषमेध यज्ञ करते हुए देवों ने अपने यज्ञ में अश्व रूप पुरुष को यूप अर्थात् लकडी के खम्बे से बांधा। देवों ने गायत्री आदि सात छन्दों को परिधि बनाया तथा इक्कीस समिधाओं की रचना की।[९१]

---

[८७] अयमेति विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ २०/१२६/१९ अथर्ववेद

[८८] इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहतु॥ ७/३१/१ अथर्ववेद

[८९] सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्ग।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान्बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव॥ ११/१/२० अथर्ववेद

[९०] उद्वेपय सं विजन्ता भिजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज।
उरुग्राहैर्बह्वङ्कैर्विध्यामित्रान्यर्बुदे॥ ११/९/१२, अथर्ववेद

[९१] सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।

८) १९/६/१५ में तो अश्वमेध का भी उल्लेख मिलता है ।

अथर्ववेदकालीन समाज में संस्कारों को भी पर्याप्त महत्वपूर्ण माना जाने लगा था । यद्यपि ये सभी संस्कार सुव्यवस्थित क्रम एवं रूप ग्रहण नहीं कर पाये थे। तथापि इनका महत्व बहुत अधिक बढ गया था । वहाँ उल्लिखित प्रमुख संस्कार इस प्रकार हैं–

१) **पुंसवन संस्कार:** पुरुषमय बीजरूप वीर्य होता है । वह गर्भाधान कर्म के द्वारा नारी के गर्भाशय में डाला जाता है । वही पुत्र प्राप्ति का साधन बनता है । यह पुंसवन कर्म प्रजापति ने बताया है।[९२]

२) **यज्ञोपवीत संस्कार:** आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार करके अपने पास रखता हुआ उसे विद्या से संपन्न करता है । आचार्य उस ब्रह्मचारी को तीन रात्रियों तक अपने अत्यधिक समीप रखता है । चौथे दिन विद्यामय शरीर से उत्पन्न उस ब्रह्मचारी को देखने के लिये देवगण एकत्र हो कर आते है ।[९३]

३) **विवाह संस्कार:** हे सूर्य! तू उत्तम पुष्पों वाले, अनेक रूप वाले तथा चमकने वाले अनेक अंगों से सुशोभित इस रथ पर आसीन हो। जो उत्तम वेष्टनों वाला तथा सुंदर पहियों वाला है । तू अमृत के लोक पर पहुँच तथा विवाह के दहेज के रूप में प्राप्त इसे अपने पति के लिये सुखदायक बना।[९४]

४) **श्राद्ध संस्कार:** हे मृतक! हम श्रादादि में जो कुछ देते हैं, वही तेरा जीवन है । तेरे जीवन का अन्य कोई साधन नहीं है । इस श्मशान को प्राप्त हुआ तू सूर्य के दर्शन करता है । हे पृथ्वी!

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥ १९/६/१५, अथर्ववेद

[९२] पुंसि वै रेतो भवति तत्त्रियामनु षिच्यते।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत्॥ ६/११/२, अथर्ववेद

[९३] सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लोक्या उच्छिष्ट आयत्ता ब्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि॥ ११/७/३,
अथर्ववेद

[९४] सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम्॥ १४/१/६१ अथर्ववेद

जिस प्रकार माता अपने पुत्र को अपने आँचल से ढकती है, उसी प्रकार इस मृतक को अपने आँचल से ढक लो।[९५]

५) **दाह संस्कार :** दाह संस्कार करने वाले पुरुषों ने मृतक को पृथ्वी से उठा कर अर्थी पर रखा और आकाश के उपभोग योग्य स्थानों पर चढा दिया । पृथ्वी को जोतने वाले आंगिरस जिस मार्ग से गये हैं, उसी मार्ग से इसे भी आकाश में पहुँचा दिया ।[९६]

उपयुक्त तथ्यों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि वर्णव्यवस्था संस्कार व्यवस्था एवं यज्ञ विधान निश्चय ही वैदिक है । भले ही ऋग्वेद वर्णव्यवस्था का समर्थन नहीं करता है तो भी अन्य वेदों में उपलब्ध होने के कारण वर्णव्यवस्था की वैदिकता को कोई खतरा नहीं है तथा शङ्कराचार्य के द्वारा निर्धारित वैदिकता के मानदण्ड सर्वथा समीचीन है । इसका अपलाप संभव नहीं है ।

अब शङ्कर द्वारा प्रतिपादित वैदिकता के दूसरे मानदण्ड पर विचार किया जा रहा है । शङ्कर के अनुसार दूसरा मानदण्ड है:

श्रुति की व्याख्या स्मृति के अनुसार ही होनी चाहिए।

यहाँ दो प्रश्न समुपस्थित होते हैं–

१. स्मृतियों के अनुसार की जाने वाली व्याख्या का स्वरूप क्या होगा?

२. स्मृत्यानुसारी वेद व्याख्या क्यों आवश्यक है?

प्रथम पक्ष

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है स्मृत्यनुसारी व्यावहारिक जीवन शैली एवं जीवन दर्शन के रूप में होगी अर्थात् वेदों के समूचे विवेच्य को दो भागों प्रस्तुत किया जायेगा–

---

[९५] इदमिद्वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥ १८/२/५० अथर्ववेद

[९६] इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ एत मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषो मादयस्व ॥ १८/१/६० अथर्ववेद

१. वेदों में उपलब्ध वह सामग्री जिसका सम्बन्ध जीवन जीने के तरिके से है, को वर्णाश्रमी जीवन शैल्यात्मक दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत किया जायेगा।

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये कुछ दृष्टान्तों का सहारा लेना उपयुक्त होगा:-

(अ). यज्ञ (हवन):-ऋग्वेदकालीन समाज में यज्ञ का विशेष महत्त्व था । इसका विस्तृत वर्णन ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में आया है । जैसे-

१) हे ऋत्विजों तुम जातवेद, भलीभाँति प्रकार से प्रज्वलित एवं दीप्तिसमपन्न अग्नि में प्रर्याप्त घृत द्वारा हवन करो।[९७]

२) सबके यज्ञकर्मों को देखने वाले अग्नि यजमानों को अन्न सहित पुत्र देते है । अग्नि प्रसन्न होकर ऐसा धन देने के लिये है, जो सर्वत्र व्याप्त एवं सबका प्रिय है ।[९८]

३) ऋत्विज रूपवान एवं सोने के आभूषणों से सने हुए घोडे के सामने भेंट करने के उद्देश्य से बकरे को ले जाते है । में में करता हुआ अनेक रंग का बकरा इन्द्र व पूषा का प्रिय है वह अश्व के सामने आये।[९९]

४) समस्त देवों के लिये उपयोगी पर पूषा का अंश व बकरा शीघ्र गतिशील अश्व के सामने लाया जाता है । घोडे के साथ इस बकरे को प्रयोग करके त्वष्टा देव के लिए स्वादिष्ट भोजन रूप पुरोडाश बनाया जाये।[१००]

---

[९७] सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन अग्नेये जातवेदसे। ५/५/१, ऋग्वेद

[९८] अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः।
अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ५/६/३, ऋग्वेद

[९९] यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रतिं गृभीतां मुखतो नयन्ति।
सुप्राङ्जो मेम्यद्विश्वरूप इन्द्रापूषोः प्रियमप्येति पार्थः॥ १/१६२/२, ऋग्वेद

[१००] एष च्छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।
अभिप्रियं यत्पुरोळाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति॥ १/१६२/३, ऋग्वेद

५) जब ऋत्विज हवि के योग्य एवं देवों के प्राप्त करने के पात्र अश्व को तीन बार अग्नि के चारों ओर घूमाते है । तब पूषा का पहला भाग रूप बकरा अपनी में में से देवयज्ञ का प्रचार करता हुआ जाता है ।[१०१]

६) होता, अध्वर्यु, आवया, अग्निमिध, ग्रावाग्राम, शंस्ता एवं सुविप्र इस प्रसिद्ध एवं भलीभाँति अंलकृत यज्ञ द्वारा नदियों को जलों से भरें।[१०२]

७) हे घोडे आग में पकाये जाते हुए तुम्हारे गात्र(शरीर) से जो रस छलकता है एवं तुम्हें मारते समय जो रक्त शूल में लग जाता है वह न भूमि पर गिरे और न तिनकों में मिलें। सम्पूर्ण की कामना करने वाले देवों को वह दिया जाय।[१०३]

इस प्रकार वेदोपलब्ध यज्ञ को जीवन का विशेष अङ्ग मानते हुए मनुस्मृति में गृहस्थ के लिये प्रतिदिन पाँच महायज्ञों का विधान किया है । इन महायज्ञों में तीसरा तो उपरि वर्णित यज्ञ ही है । मनु का वचन है कि–

१) गृहस्थ को उचित है कि प्रतिदिन विवाह के समय की आग में निजगृह में कहे हुए सोमआदि कर्म और पञ्चमहायज्ञ तथा पापकर्म का विधान विधिपूर्वक करता रहे।[१०४]

२) उन हिंसाओं के पापों से छुटने के लिये गृहस्थ को प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने को ऋषियों ने कहा।[१०५]

३) यहाँ यह शंका की जा सकती है कि मनु आदि स्मृतियों ने यज्ञ एवं पशुहिंसा का समर्थन नहीं किया है किन्तु ऐसी बात नहीं है । मनुस्मृति के पञ्चम अध्याय में कहा गया है कि– स्वयं ब्रह्मा

---

[१०१] यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः॥१/१६२/४ ऋग्वेद

[१०२] होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम् ॥१/१६२/५, ऋग्वेद

[१०३] यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति।
मा तद्भूम्यामा श्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु॥१/१६२/११ ऋग्वेद

[१०४] ३/७, मनुस्मृति

[१०५] ३/६९, मनुस्मृति

ने ही पशुओं को यज्ञ के लिये लिये बनाया है ताकि सब यज्ञ सम्यक् रूप से पूर्ण हो सके। इसलिए यज्ञ में पशुवध नहीं है ।[१०६]

इस तरह से मनुस्मृति आदि के अनुसार की जाने वाली वेद व्याख्या में यज्ञ को दिनचर्या का आवश्यक अङ्ग माना जायेगा।

(आ). विवाह– ऋग्वेद १/६६/४ में अग्नि नामक देव के बारे में कहा गया है कि वह कुमारियों का जार एवं विवाहितों का पति है । तथा ऋग्वेद के १/१७९ में वर्णन है कि–

१) लोपामुद्रा बोली–"हे अगस्त्य! मैं पूर्वकालिक अनेक वर्षों से रत और दिन उषाकाल में शरीर को जीर्ण करती हुई तुम्हारी सेवा में लगी रही हूँ । इस समय बुढापा मेरे अंगों का सौन्दर्य नष्ट कर रहा है । क्या इस अवस्था में पुरुष नारियों के साथ समागम न करें?[१०७]

२) हे अगस्त्य! प्राचीन महर्षियों ने सत्य को प्राप्त किया । वे देवों के साथ सत्य बोलते थे। उन्होंने भी पत्नियों में वीर्य का स्खलन किया और इस कार्य को समाप्त नहीं किया । तपस्या करती हुई पत्नियाँ भोग–समर्थ पतियों के समीप जाती थी।[१०८]

३) अगस्त्य ने उत्तर दिया– "हे पत्नी! हम लोग व्यर्थ ही नहीं थके है । हमारी तपस्या से प्रसन्न देव हमारी रक्षा करते है । हम सभी भोगों को भोगने में समर्थ है । यदि हम और तुम इच्छा करें तो इस संसार में अब भी सुखसंभोग के सैकडों साधन प्राप्त कर सकते है ।[१०९]

४) हे पत्नी! मैं मन्त्रों के जप और ब्रह्मचर्य पालन में लगा रहा। फिर भी न जाने किस कारण मुझ में काम का भाव उत्पन्न हो गया । तुम लोपामुद्रा वीर्य सेचन समर्थ मुझ पति के साथ संगत हो जाओ। तुम अधीर नारी बन कर मुझ महाप्राण पुरुष का भोग करो।[११०]

---

[१०६] ५/३९, मनुस्मृति

[१०७] पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाप्यू नु पत्नीर्षणो जगम्युः॥ १/१७९/१, ऋग्वेद

[१०८] ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नू पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः॥ १/१७९/२, ऋग्वेद

[१०९] न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत्स्पृधो अभ्यश्नवाव।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत्सम्ञ्चा मिथुनावभ्यजाव॥ १/१७९/३, ऋग्वेद

इन्हीं को आधार मानते हुए मनु आदि स्मृतियों ने मानव जीवन में विवाह को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया । जैसे–

१) अपने वर्ण की कन्या के ही पाणिग्रहण की व्यवस्था है । अन्य वर्ण की कन्या के विवाह में अग्रोक्त विधि जाननी चाहिए।[१११]

इस प्रकार विवाह जीवन का एक अभिन्न अंग बन जाता है ।

(इ). गोपालन:– चूँकि वैदिक समाज एक गोपालक समाज था । जिसमें गायें ही धन एवं वैभव की प्रतीक थीं। इसी को वेदों के अनेक मंत्रों में दर्शाया गया है । जैसे–

१) आनन्ददायी वायु गायों की और चलें। गायें शक्ति देने वाली घास एवं अधिक मात्रा में जल पियें। हे इन्द्र! चरणों वाली तथा अन्नरूपिणी गायों की रक्षा करें।[११२]

२) हे इन्द्र! जो गायें देव सम्बन्धि यज्ञों के लिये अपना शरीर देती हैं और सोम जिनके दूध, दही, घृतादि रूपों को जानते हैं उन्हें दूध से भरकर तथा सन्तान युक्त बनाकर हमारे यज्ञ में भेजो।[११३]

३) प्रजापति समस्त देवों एवं पितरों से सलाह करके मुझे ये गायें प्रदान की है, वे इन गायों को समस्त कल्याणरूपिणी बनकर अपनी गौशाला में रखते है । जिससे हम गायों के बच्चे पा सकें[११४]

४) जिस प्रकार ग्वाला दूध निकालने के लिये गाय को बुलाता है, उसी प्रकार हम भी अपनी रक्षा के लिये सुन्दर कर्म करने वाले इन्द्र को प्रतिदिन बुलाते है ।[११५]

---

[११०] नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्र वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥ १/१७९/४, ऋग्वेद

[१११] पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्धाहकर्मणि॥ ३/४३, मनुस्मृति

[११२] वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्ति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन्॥ १०/१६९/१, ऋग्वेद

[११३] अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव॥ १०/१६९/३, ऋग्वेद

[११४] आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घिषा इदस्य श्रृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥ १०/१६९/४, ऋग्वेद

५) इसी को आधार बनाकर मनु आदि स्मृतियों में गाय को विशेष महत्त्व प्रदान किया । यहाँ तक की ग्वाले का वेतन भी निश्चित किया गया है ।[११६]

इस प्रकार मनुस्मृत्यनुसारी वेद व्याख्या में गोपालन जीवन शैली का एक अङ्ग माना जायेगा।

(ई). वर्णव्यवस्था:– ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १२ वें मन्त्र में कहा गया है कि ब्राह्मण इसका मुख हुआ, क्षत्रिय को इसकी भुजाएं बनाया गया, उसकी दोनों जंघाएँ वैश्य था और दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ।

इसी को मनुस्मृति में कहा है कि ब्रह्मा ने लोकों की विशेष वृद्धि के लिये अपने मुख, बाहु, जंघा और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया ।[११७]

इतना ही नहीं मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था को जीवन का केन्द्र बना डाला, जिसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है । इस वर्णव्यवस्था को जीवन शैली के रूप में प्रस्तुत किया जायेगा।

(उ). नारी को हीन समझना:– ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ९५ वें सूक्त के १५ वें मन्त्र में नारी (उर्वशी) के मुख से कहलवाया गया है कि... हे पुरुरवा तुम मत करो, तुम धरती पर मत गिरो, अश्व व भेडिये तुम्हें न खायें स्त्रियों की मैत्री वास्तविक नहीं होती स्त्रियों का हृदय भेडिये के समान होता है।[११८] ऋग्वेद के ही ८ वें मण्डल के ३३ वें सूक्त के १७ वें मन्त्र में कहा गया है– इन्द्र ने ही कहा था "स्त्री के मन पर शासन संभव नहीं है । स्त्री की बुद्धि छोटी होती है ।" इसी सूक्त में नारी को परदे में रहने का उपदेश भी किया गया है । जो इस प्रकार है– इन्द्र ने कहा "हे प्रायोगि! तुम नीचे देखो ऊपर मत देखो, तुम पैरों को आपस में मिलाओ, तुम्हारे होठों एवं कमर को कोई न देखे तुम स्तोता होते हुए भी

---

[११५] सुरूपकृलुमूतये सुदुधामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि॥ १/४/१, ऋग्वेद

[११६] गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतोवराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः॥ ८/२३१, मनुस्मृति

[११७] १/३१, मनुस्मृति

[११८] पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता॥ १०/९५/१५, ऋग्वेद

स्त्री हो।" ऋग्वेद के ही ५ वें मण्डल के३० वें सूक्त के ९ वें मन्त्र में कहा गया है– "दास ने स्त्रियों को आयुद्ध (सैनिक) बनाया इसकी अबला सेना मेरा क्या करेगी।"[११९]

उपर्युक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदकाल में स्त्री को हीनता की दृष्टि से भी देखा जाता था ।

इसी से प्रेरणा लेते हुए मनु आदि विभिन्नस्मृतियों ने पुरुषों को नारी के प्रति हीनभावना रखने को प्रेरित किया तथा कानूनी व्यवस्था दी कि नारी स्वतन्त्र नहीं हो सकती।[१२०]

(ऊ). उत्पादक वर्ग एवं लौकिक वाणी के प्रयोक्ता के प्रति घृणाभाव

ऋग्वेदकालीन समाज में यज्ञ एवं यज्ञकर्म को इतनी प्रधानता दी गयी थी कि यज्ञ कर्म में प्रयोग की जाने वाली भाषा तथा यज्ञ करने वाले लोगों को श्रेष्ठ तथा लौकिक वाणी के प्रयोक्ताओं एवं उत्पादक वर्ग को बुरी तरह से घृणा की दृष्टि से देखा जाता था । जैसे–

- ये अविद्वान लोग इस लोक में वेद को जानने वाले ब्राह्मणों द्वारा एवं परलोकवासी देवों के साथ यज्ञकर्म का आचरण नहीं करते न तो वे स्तोता हैं और न सोमयज्ञ करने वाले है । ये पाप का आश्रय लेने वाली लौकिक वाणी से युक्त होकर मूर्ख के समान हल चलाते हुए कृषिकर्म करतें है ।[१२१]

---

[११९] स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः।
अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद्युधये दस्युमिन्द्रः॥ ५/३०/९, ऋग्वेद

[१२०] अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥ ९/२, मनुस्मृति
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ ९/३ मनुस्मृति

[१२१] इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापाया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥ १०/७१/९, ऋग्वेद

- इसी से प्रेरणा लेकर मनु आदि स्मृतियों में उत्पादक वर्ग (किसान या शूद्र) को घृणित दृष्टि से देखा गया है तथा उसके लिये कितनी अमानवीय व्यवस्था थी, इसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है ।

- इसी प्रकार अथर्ववेद काण्ड५, सूक्त १९ में प्रकट किये गये विचारों के अनुसार ही ब्राह्मण की सर्वोच्चता को जीवन शैली में स्थापित करने के लिये वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण वर्ण को अधिक से अधिक विशेषाधिकार प्रदान किये गये।[१२२]

द्वितीय पक्ष

स्मृत्यानुसारी वेद व्याख्या का दूसरा पक्ष यह है कि इस व्याख्या में वैदिक वचनों की व्याख्या वर्णाश्रमीय दृष्टियुक्त जीवन दर्शन के रूप में की जाती है । इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है कि पुरुष सूक्त की मनुस्मृति में उपलब्ध व्याख्या। यद्यपि मनुस्मृति में यह नहीं कहा गया है कि यह व्याख्या पुरुष सूक्त की जा रही है, किन्तु उस व्याख्या में ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जो यह मानने को बाध्य करते हैं कि यह पुरुष सूक्त की व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । पुरुष सूक्त के मन्त्र १२ में कहा गया है कि ब्राह्मण उसका मुख था, क्षत्रिय को भुजा बनाया गया, दोनों जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ। इसी मन्त्र की व्याख्या करते हुए मनु कहते हैं कि लोकों की विशेष वृद्धि के लिये ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मण को, बाहु से क्षत्रिय को, जंघाओं से वैश्य को एवं पैर से शूद्र को उत्पन्न किया अर्थात् यहाँ वर्णव्यवस्था को केवल एक सामाजिक व्यवस्था न रखकर एक दार्शनिक सिद्धान्त बना दिया गया जिसके अनुसार जीवन जीना अनिवार्य था

अब इस विवेचन के दूसरे बिन्दु पर विचार किया जाता है कि मनुस्मृति आदि के अनुसार ही वेद व्याख्या क्यों की जाये। इसके लिये सबसे पहले मनु तथा मनुस्मृति के सम्बन्ध को समझना आवश्यक है । मनु का उल्लेख एक ऋषि के रूप में ही प्रायः उपलब्ध होता है । ऋग्वेद में कई स्थानों पर मनु का उल्लेख हुआ है जैसे–

[१२२] ५/१९, अथर्ववेद

१) हे अग्नि! तुमने मनु पर अनुग्रह करके यह बताया था कि किन-किन कर्मों से स्वर्ग मिलता है...[१२३]

२) हे अग्नि! तुम हवि ग्रहण करने के लिये भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाते हो तुम जिस प्रकार मनु, अंगिरा, ययाति आदि पूर्व पुरुषों के यज्ञ में जाते थे उसी प्रकार हमारे यज्ञ में भी सामने की ओर से आओ...[१२४]

३) अथर्वा ऋषि, समस्त प्रजाओं के पिता तुल्य मनु एवं अथर्वा के पुत्र दध्याङ् ऋषि ने जितने भी यज्ञकर्म किये उनमें प्रयुक्त हविरूप अन्न एवं स्तोत्र प्राचीन ऋषियों के यज्ञों के समान इन्द्र को ही मिलें इसलिए इन्द्र ने अपने अधिकार का प्रदर्शन किया ।[१२५]

४) पवमान सोम की जो ज्योति दिन के लिये प्रकाश देती है उसने मनु की भलीभाँति रक्षा की...[१२६]

५) स्तुतियाँ करते-करते थक गये मुझ नाभानेदिष्ट की उत्तम स्तुतियाँ इन्द्र के पास जाती है । हे शोभन दान वाले अग्नि हमारी स्तुतियाँ इन्द्र के पास जाती है । तुम अश्वमेध यज्ञ करने वाले मुझ मनु के पुत्र को स्तुतियों से बढाते हो।[१२७]

६) वे सावर्णि मनु जल से भीगे बीज के समान शीघ्र बढें। वह हजारों घोडों से युक्त सैकडों गायें देने के लिये तुरन्त तैयार है ।[१२८]

---

[१२३] त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तरः।
श्वात्रेण यत्पित्रोर्मुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः॥ १/३१/४, ऋग्वेद

[१२४] मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्सदने पूर्ववच्छुचे।
अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम्॥ १/३१/१७, ऋग्वेद

[१२५] यामाथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्धियमत्नत।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥१/८०/१६, ऋग्वेद

[१२६] तन्नु सत्यं पवमानस्यास्तु यत्र विश्वे कारवः संनसन्त।
ज्योतिर्यदह्ने अकृणोदु लोकं प्रावन्मनुं दस्यवे करभीकम्॥ ९/९२/५, ऋग्वेद

[१२७] अधा गाव उपमातिं कनाया अनु श्वान्तस्य कस्य चित्परेयुः।
श्रुधि त्वं सुद्रविणो नस्त्वं याळाश्वघ्नस्य वावृधे सूनृताभिः॥ १०/६१/२१, ऋग्वेद

[१२८] प्र नूनं जायतामयं मनुस्तोक्येव रोहतु।
यः सहस्रं शताश्वं सद्यो दानाय मंहते॥ १०/६२/८, ऋग्वेद

७) मनु जब दानकर्म आरम्भ करते हैं तो कोई भी उनकी समानता नहीं करता वे सोने के पर्वत के समान स्थित हैं सावर्णि मनु की दक्षिणा नदी के समान सब जगह बढती है ।[१२९]

८) कल्याण करने वाले गायों से युक्त एवं दास के समान यदु और तुर्वसु नामक राजा मनु के भोजन के लिये पशु देते है ।[१३०]

९) हजारों गायें देने वाले एवं ग्राम के प्रधान मनु को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। मनु की दक्षिणा सूर्य के साथ तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो। यज्ञकर्मों में आलस्य न करने वाले हम मनु से अन्न प्राप्त करें।[१३१]

१०) जो देवगण दूर देश से आकर मनुष्यों के साथ मित्रता स्थापित करते हैं, मानवों द्वारा प्रसन्न होकर जो देव वैवस्वत मनु से उत्पन्न मनुष्यों को धारण करते हैं एवं जो देव नहुषपुत्र ययाति राजर्षि के यज्ञ में बैठते हैं, वे धन आदि देकर हमें पूजित करें।[१३२]

११) हे इन्द्र द्वारा छोडे गये बाण! मनु की पुत्री पर्शु ने एक साथ बीस पुत्रों को जन्म दिया जिसका पेट मोटा था, उसका कल्याण हुआ। इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है ।[१३३]

१२) हे इन्द्र! नमुचि राक्षस तुम्हारे धन की अभिलाषा करता था । इसलिए तुमने उसे मार दिया । तुमने मनु के सामने घातक असुर नमुचि को मायाविहीन किया । तुमने मनु के चलने के लिये मार्ग सुरक्षित कर दिया । वे मार्ग सरलता से देव लोक जाते है ।[१३४]

---

[१२९] न तमश्नोति कश्चन दिवैव सान्वारभम्।
सावर्ण्यस्य दक्षिणा वि सिन्धुरिव पप्रथे॥ १०/६२/९, ऋग्वेद

[१३०] उत दासा परिविषे स्मद्दिष्टी गोपरीणसा।
यदुस्तुर्वश्च मामहे॥ १०/६२/१०, ऋग्वेद

[१३१] सहस्रदा ग्रामणीर्मा रिषन्मनुः सूर्येणास्य यतमानैतु दक्षिणा।
सावर्णेर्देवाः प्र तिरन्त्वायुस्मिन्नश्नन्ता असनाम वाजम्॥ १०/६२/११, ऋग्वेद

[१३२] परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः।
ययातेर्ये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुवन्तु नः॥ १०/६३/१, ऋग्वेद

[१३३] पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १०/८६/२३, ऋग्वेद

[१३४] विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवेदिवे ज्योग्जीवाः प्रति पश्येम सूर्य॥ १०/३७/७ ऋग्वेद

१३) हे अश्विनीकुमारो! तुमने प्राचीनकाल में द्युलोक का जल मनु को देकर हल द्वारा जौ की खेती करना सीखाया था । हे जल के स्वामी अश्विनीकुमारो! आज उत्तम स्तोत्रों द्वारा हम तुम्हारी स्तुति करते है ।[१३५]

१४) अधिक धन वाले एवं शत्रुनाशक देव मनु की वृद्धि करने वाले हों। हे सर्वज्ञ देवो दूसरों द्वारा अबाधित रक्षा साधनों द्वारा हमें चोर के भय से रहित घर दो।[१३६]

१५)समान क्रोध वाले विश्व देव मनु को धनादि देने के लिये एक साथ ही तत्पर हों। वे आज एवं अन्य दिनों मेरे तथा पुत्र के लिये धन देने वाले हों।[१३७]

१६) हे समस्त धन के स्वामी देवो! आज सूर्योदय के समय, दोपहर को और शाम के समय हवन करने वाले तथा उत्तम ज्ञानी मनु के लिये तुम सुन्दर धन को धारण करते हो।[१३८]

१७) हे शत्रुनाशक एवं मनु के यज्ञ के पात्र देवो! तुम तेंतीस हो, ऐसा कहकर तुम्हारी स्तुति की जाती है ।[१३९]

१८) हे देवो! हमें राक्षसों से बचाओ, हमारी रक्षा करो एवं हमसे अच्छी तरह बोलो। हमारे पिता मनु के दूरागत मार्ग से हमें भ्रष्ट मत करना।[१४०]

उपर्युक्त वेद मन्त्रों से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं–

१) ऋग्वेदकालीन समाज में धार्मिक, सामाजिक आदि नियम स्वैच्छिक होते थे।

२) मनु कोई बहुत बड़े राजा या बड़े महर्षि नहीं थे, अपितु वे केवल एक गांव के नेता थे।

---

[१३५] ८/२२/६ ऋग्वेद

[१३६] ८/२७/४ ऋग्वेद

[१३७] ८/२७/१४ ऋग्वेद

[१३८] ८/२७/२१ ऋग्वेद

[१३९] ८/३०/२ ऋग्वेद

[१४०] ८/३०/३ ऋग्वेद

३) वे यज्ञ करते थे तथा उन्होंने स्वर्ग प्राप्ति में सहायक कर्मों को निर्धारित किया ।

४) दो बड़े कबीलों यदु एवं तुर्वसु के राजा लोग मनु को खाद्य सामग्री के रूप में पशु देते थे।

५) मनु बहुत अधिक दान करते थे जिससे अनेक लोग इनके बताये हुए स्वर्ग आदि प्राप्त कराने वाले यज्ञादि कर्मों को आलस्य रहित होकर करते थे ताकि वे मनु के कृपापात्र बन सके।

६) यहाँ मनु के साथ दो विशेषणों का प्रयोग किया है, सावर्णि एवं वैवस्वत। सावर्णि शब्द मातृपरक है तथा वैवस्वत पितृपरक है ।[१४१]* ऋग्वेदकालीन सबसे लोकप्रिय एवं लोकपूज्य देव इन्द्र से भी मनु के अच्छे सम्बन्ध थे। इस प्रकार मनु एवं मनु की विचारधारा का अनेक सम्मानित वैदिक देवों एवं ऋषियों से भी साक्षात् सम्बन्ध रहा है तथा मनुस्मृति आदि में उपलब्ध विवरण का अधिकतम अंश वेदों से ही गृहीत है । इसलिए शङ्कर का यह कहना कि वेदों व्याख्या मनु आदि स्मृतियों के आधार पर होनी चाहिये तथा इसको वैदिकता का मानदण्ड स्वीकार करना सर्वथा युक्तियुक्त है । इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद में केवल एक ही मनु का उल्लेख है ।

इस समूचे विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनु ने आम लोगों की सहायता की तथा कुछ धार्मिक नियमों का उपदेश किया । इन नियमों को आम जनता में लागू करने के लिये पाँच पक्ष उत्तरदायी हैं–

?. मनु की दान भावना जिससे श्रद्धावान एवं दानेच्छु लोगों ने श्रद्धाभाव से इन नियमों को स्वीकार कर लिया ।

?. मनु की सहायता करने वाले दोनों बड़े कबीलों के राजाओं ने अपने-अपने कबीलों में भी अवश्य ही उन नियमों को लागू करवाया होगा तथा उन नियमों के पालन को जीवन स्तर का प्रतीक(stastus simbol) बना दिया ।

?. मनु के पुत्र नाभानेदिष्ट ने अंगिरा आदि दूसरे ऋषियों से प्रार्थना की तथा सहयोग प्राप्त किया ।

?. एक साथ दो बड़े कबीलों की स्वीकृति तथा अंगिरा जैसे बड़े सम्मानित ऋषियों के सहयोग तथा मनु का तत्कालीन समुदायों के पूज्य देव इन्द्र के साथ भी अच्छे सम्बन्ध होने के कारण

---

[१४१] सावर्णि (पुं.)[सवर्णा+इञ्]
आठवें मनु का मातृपरक नाम (सूर्य की पत्नी सवर्णा से उत्पन्न)
संस्कृत-हिन्दी शब्द कोष, वी. एस. आप्टे, कमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.सं. ११३६

अन्य कई चिन्तकों ने भी इस ओर ध्यान केन्द्रित किया । तथा मनु द्वारा निर्धारित नियमों जैसे ही नियम बना लिये। इससे अन्य कबीलों में भी इन नियमों के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ लेकिन दूसरे नियमकारों द्वारा बनाये गये नियमों ने भी मनु की महत्ता को ही बढाया। इससे मनु अधिक प्रामाणिक हो गये तथा दूसरों के वचनों की प्रामाणिकता भी मनु के वचनों की प्रामाणिकता के आश्रित हो गयी ।

?. ऋग्वेदकालीन समुदायों के पूज्य देव इन्द्र से भी मनु के अच्छे सम्बध थे जिसके कारण इन्द्र को पूजने वाली जनता भी मनु के विचारों को सहज ही स्वीकार कर लिया होगा ।

लोगों ने श्रद्धा भाव से मनु निर्दिष्ट कर्मों को आध्यत्मिक एवं धार्मिक नियमों के रूप में ग्रहण कर लिया । मनु का पुत्र नाभानेदिष्ट भी अपने पिता के नक्शे कदम पर चला तथा उसके कारण मनु निर्दिष्ट नियम जीवन शैली एवं जीवन दर्शन के रूप में स्थापित हो गये। इन्हीं नियमों को मानवगृह्यसूत्र एवं मानवधर्मसूत्र के रूप में संगृहीत किया गया । लेकिन अब मानवधर्मसूत्र उपलब्ध नहीं होते केवल मानवगृह्यसूत्र ही उपलब्ध होते है । इन्हीं सूत्रों के आधार पर कालान्तर में मनुस्मृति का निर्माण किया गया। इसी कारण मनुस्मृति में बार बार 'इति मनुरब्रवीत्।' आदि वाक्यांश उपलब्ध होते हैं तथा मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के बिल्कुल प्रारम्भ में उपलब्ध वर्णन से भी यही तथ्य ध्वनित होता है ।

३. ईश्वर में विश्वास

अब शङ्कर द्वार निर्दिष्ट वैदिकता के तीसरे मानदण्ड, ईश्वर में विश्वास पर विचार किया जा रहा है । जहाँ तक ईश्वर में विश्वास का प्रश्न है सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि शङ्कर ने ईश्वर को किस रूप में स्वीकार किया है । शाङ्करभाष्य के अध्ययन से पता चलता है कि शङ्कर जगत् के रचयिता, संचालक एवं संहारक के रूप में ईश्वर को स्वीकार करते है । यहाँ दो बातें जानने योग्य हैं–

?. शङ्कर निर्दिष्ट ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा की वेदों में संभावना। और

?. शङ्कर निर्दिष्ट ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा की मनु आदि स्मृतियों में संभावना।

जहाँ तक शङ्कर निर्दिष्ट ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा की वेदों में संभावना का प्रश्न है, ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं को जगत् के रचयिता, संचालक और संहारक के रूप में वर्णन किया गया है ।

जैसे–

?. ऋग्वेद के दशम मण्डल के २७ वें सूक्त के अनुसार इन्द्र ने ही जगत् की रचना की। वही इसका संचालक एवं संहारक भी है ।

?. ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त ७२ के अनुसार जगत् की रचना ब्रह्मणस्पति ने की। वही इसका संचालक एवं संहारक है ।

?. ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त ८१ और ८२ के अनुसार जगत् का कर्त्ता–धर्ता एवं संहत्ता विश्वकर्मा है ।

?. दशम मण्डल के ही सूक्त ८५ के अनुसार ब्रह्मा इस जगत् का धारक है ।

?. ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त ९० के अनुसार विराट पुरुष एवं यज्ञ ही इस जगत् का रचयिता एवं धारक है ।

?. ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त १२१ के अनुसार जगत् का रचयिता एवं धारक प्रजापति है ।

?. ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त १२५ के अनुसार वाणी ही इस जगत् को उत्पन्न एवं धारण करने वाली है ।

?. ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त १२९ में तो एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है कि यह विशेष सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है पता नहीं वह इसे धारण करता है अथवा नहीं। विस्तृत आकाश में जो इस सृष्टि का अध्यक्ष है पता नहीं वह इसे जानता है अथवा नहीं।[१४२]

?. ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२८ वें सूक्त के ७ वें मन्त्र के अनुसार सविता इस जगत् का सृष्टि कर्त्ता एवं रक्षक है ।[१४३] तथा

---

[१४२] इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ १०/१२९/७, ऋग्वेद

[१४३] धाता धातृणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम्।
इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात्॥ १०/१२८/७, ऋग्वेद

??. ऋग्वेद के दशम मण्डल के १९० वें सूक्त में सृष्टि की प्रक्रिया के बारे में तो बताया गया है किन्तु धारण करने वाले, रचना करने वाले एवं विनाश करने वाले के बारे में नहीं बताया गया है ।

ऋग्वेद में उपलब्ध इस तरह के विवरणों से केवल इतना ही संकेत मिलता है कि वहाँ यह मान्यता तो निश्चित रूप से थी है कि इस जगत् का कोई कर्त्ता, संचालक एवं संहारक तो अवश्य है, भले ही एक स्थान पर केवल अपने तथा उस जगत् नियन्ता के ज्ञान पर सन्देह किया गया है तो भी वहाँ भी उसे उत्पत्ति कर्त्ता माना ही गया है । सभी स्थानों में उस विश्व के कर्त्ता, संचालक और संहारक शक्ति के नामों के बारे में पर्याप्त मत भिन्नता है । लेकिन यह मतभिन्नता केवल दो ही संकेत करती है ।

प्रथम– विभिन्न देवताओं के अहम् को तुष्ट करने के लिये, उन्हें ही जगत् की उत्पादक, संचालक एवं संहारक शक्ति के रूप में वर्णित किया गया ।

द्वितीय–या फिर विभिन्न देवताओं के भक्तों द्वारा अपने अहम् को तुष्ट करने के लिये अपने–अपने उपास्य देवों को उस शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया ।

१) यजुर्वेद के १३ वें अध्याय में जगत् के रचनाकार के रूप में ब्रह्मा और शक्ति का वर्णन किया गया है ।

२) अध्याय १४ के मन्त्र ९ व १० में प्रजापति को जगत् का उत्पादक कहा गया है ।[१४४]

३) १७ वें अध्याय के मन्त्र १८ में विश्वकर्मा को ।[१४५]

---

[१४४] मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो
वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो वस्तो वयो
विबलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो
व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्दः सिँहो वयश्छदिश्छन्दः पष्ठवाड् वयो
बृहती छन्दऽउक्षा वयः ककुप् छन्दऽऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः॥ १४/९, यजुर्वेद

अनड्वान् वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप्
छन्दो दित्यवाद् वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री
छन्दस्त्रिवत्सो वयऽ उष्णिक् छन्दस्तुर्य्यवाड् वयोऽनुष्टुप छन्दः॥ १४/१०, यजुर्वेद

[१४५] किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौन्महिना विश्वचक्षाः॥ १७/१८, यजुर्वेद

४) अध्याय २३ के मन्त्र १ में हिरण्यगर्भ परमात्मा को जगत् का रचयिता, नियन्ता एवं शामयिता कहा गया है ।[१४६]

५) ३१ व ३२ वें अध्यायों में पुरुष को जगत् का रचयिता आदि कहा गया है ।

६) ३४ वें अध्याय के मन्त्र ५८ में देवों को संसार का नियन्त्रक बताया गया है ।[१४७]

७) ३७ वें अध्याय के मन्त्र २ में जगत् का रचयिता सविता देव के रूप में माना गया है ।[१४८]

८) परमेश्वर का सबसे सुन्दर वर्णन यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के मन्त्र ८ में उपलब्ध है ।[१४९]

ऋग्वेद में जहाँ विभिन्न देवताओं को परमशक्ति के रूप में स्वीकार गया है, वहीं यजुर्वेद में उसे ब्रह्म की स्थिति तक पहुँचा दिया है । इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि वेद सृष्टि कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है । अब इस विषय के दूसरे पक्ष पर विचार करते हैं–

जहाँ तक मनु आदि स्मृतियों का प्रश्न है लगभग सभी स्मृतियों ने सृष्टि के रचयिता, नियन्ता एवं संहर्त्ता के रूप में परमेश्वर को स्वीकार किया है । जैसे–

१) मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के श्लोक ५ से ८७ तक ईश्वर के द्वारा सृष्टि की रचना, संचालन एवं प्रलय के सम्बन्ध में सविस्तार वर्णन किया गया है ।

२) विष्णुस्मृति के सम्पूर्ण प्रथमाध्याय में इसी का वर्णन है ।

इस प्रकार वेद और मनु आदि स्मृतियों के द्वारा समर्थित होने के कारण शङ्कर के द्वारा दिया गया मानदण्ड सर्वथा उचित है ।

---

[१४६] हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २३/१, यजुर्वेद

[१४७] ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ३४/५८, यजुर्वेद

[१४८] युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥३७/२, यजुर्वेद

[१४९] कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्।
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ४०/८ यजुर्वेद

४. सर्वात्मभाववाद

अब अन्त में शङ्कर द्वारा उपस्थापित वैदिकता के चतुर्थ मानदण्ड, सर्वात्मभाववाद की वेदों और स्मृतियों से संबद्धता पर विचार करने से पहले इसके स्वरूप को समझना असमीचीन नहीं होगा । सर्वात्मभाववाद के दो पक्ष हैं–

१) अपने आपको आत्मा मानते हुए अन्य आत्माओं में अपने आप को मानना तथा अन्य आत्माओं को अपने में मानना । और

२) अपने आप को विश्व के आत्मारूप परमेश्वर में महसूस करना तथा परमेश्वर को स्वयं में महसूस करना ।

ये दोनों ही पक्ष वेद तथा मनु आदि स्मृतियों दोनों में मिलते है । सर्वप्रथम वेद में इस वाद के प्रथम पक्ष के विषय में वैदिक मत पर विचार किया जा रहा है, जो इस प्रकार है–

❖ यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के ६ व ७ वाँ मन्त्र तो सर्वात्मवाद के मानों आधारा ही है जो इस प्रकार है–

१) जो सभी प्राणियों में अपने को (आत्मतत्त्व को) देखता है, तथा उसका अनुभव करता है, उसे कभी भी कोई भ्रम नहीं होता।[१५०]

२) जिस (स्थिति) में मनुष्य यह जान लेता है कि सभी भूतों में एक ही आत्मतत्त्व है, तब क्या मोह क्या शोक। उसे सर्वत्र एक जैसी स्थिति दिखायी देती है ।[१५१]

---

[१५०] यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥ ४०/६, यजुर्वेद

[१५१] यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥ ४०/७, यजुर्वेद

अब इस वाद के दूसरे पक्ष के वैदिकत्व पर विचार किया जाता है–

इस विषय का स्पष्ट दर्शन यजुर्वेद में मिलता है, जहाँ कहा गया है कि–

१) हम परमात्मा से मन और बुद्धि जोड़ते है । ब्राह्मण, विशाल एवं सर्वव्यापक परमात्मा से अपना मन जोड़ते है । परमात्मा सर्वविद् है । होता उन्हें धारण करते है । सविता देव अभिनन्दनीय है । सभी सविता देव की आराधना करते है ।[१५२]

२) हे परमात्मा आप हमारे हृदय में हैं, मन में हैं एवं स्वर्गलोक में है ।[१५३]

३) वह परमपिता सर्वव्यापक है । चमकीला (दीप्तिमान) है । काया रहित है । नाड़ियों से रहित है । घावों से रहित है । वह पवित्र है । पाप रहित है । वह विद्वान है । मननशील है । सर्वव्यापक है । स्वयंभू (स्वयं उत्पन्न होने वाला) है । उसने सृष्टि के आरम्भ से ही सब के लिये यथा योग्य साधन सुविधाओं की व्यवस्था की है ।[१५४]

४) सत्य का मुंह स्वर्णमय पात्र से ढका हुआ है । वह जो आदित्य पुरुष है वह मैं हूँ । आकाश में ॐ रूप में ब्रह्म ही व्याप्त है ।[१५५]

मनु आदि स्मृतियाँ भी इन दोनों मतों का समर्थन करती है ।

प्रथम पक्ष का समर्थन करते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि–

१) जो आत्मज्ञानी सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को और आत्माओं में सब भूतों को एक समान भाव से देखता है वह ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष पाता है ।[१५६]

---

[१५२] युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥३७/२, यजुर्वेद

[१५३] हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्य्याय त्वा।
ऊर्ध्वोऽअध्वरं दिवि देवेषु धेहि॥ ३७/१९, यजुर्वेद

[१५४] कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्।
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ४०/८, यजुर्वेद

[१५५] हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ॐ खं ब्रह्म॥ ४०/१७, यजुर्वेद

[१५६] सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

२) सावधान होकर सम्पूर्ण सत् असत् वस्तुओं को आत्मा में देखें, जो सबको आत्मा में देखता है उसका मन अधर्म की ओर कभी नहीं दौड़ता।[१५७]

३) आत्मा ही सम्पूर्ण देवता है, सारा जगत् आत्मा में स्थित है और आत्मा ही शरीर धारियों के कर्म के सम्बन्ध को उत्पन्न करता है ।[१५८]

४) इसी प्रकार जो लोग आत्मद्वारा सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को देखते हैं वे सब में समता पाकर परम पद प्राप्त करते हैं।[१५९]

दूसरे पक्ष का समर्थन करते हुए मन्वनुसारी दक्षस्मृति में कहा गया है कि-

१) सब वृत्तियों से मन को हटाकर जीवात्मा को परमात्मा में मिला देने से मुक्ति हो जाती है, इसको मुख्य योग कहते है ।[१६०] ७/१६ दक्षस्मृति

इस प्रकार शङ्कर द्वारा उपस्थापित चतुर्थमानदण्ड भी सर्वथा उपपन्न है ।

सांख्य दर्शन और वैदिकता

शङ्कर द्वार निर्दिष्ट वैदिकता के मानदण्डों की विशद समीक्षा के उपरान्त अब इस तथ्य पर विचार किया जा रहा है कि इन मानदण्डों के आधार पर सांख्य सचमुच अवैदिक ही सिद्ध होता है अथवा आचार्य शङ्कर ने उसे बलात्कारेण अवैदिक घोषित करने का प्रयास किया है । इसके लिये चारों मानदण्डों के आधार पर सांख्य की समीक्षा की जानी अत्यन्त आवश्यक है । इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु यहाँ शङ्करनिर्दिष्ट वैदिकता के मानदण्डों के आधार पर सांख्य की समीक्षा की जा रही है-

---

समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥ १२/९१, मनुस्मृति

[१५७] सर्वात्मानि संपेश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नधर्मे कुरुते मनः॥ १२/११८, मनुस्मृति

[१५८] आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ १२/११९, मनुस्मृति।

[१५९] एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वममतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ १२/१२५, मनुस्मृति

[१६०] वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि।
एकीकृत्य विमुच्येत योगोयं मुख्य उच्यते॥ ७/१६, दक्षस्मृति

शङ्कर के अनुसार वैदिकता का प्रथम मानदण्ड मनु आदि स्मृतियों में वर्णित वर्णव्यवस्था एवं संस्कारव्यवस्था है । यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सांख्य अवैदिक दर्शन है तो क्या उसने वर्णाश्रम व्यवस्था को अस्वीकार किया है । निश्चय ही चार्वाक दर्शन की तरह सांख्य दर्शन का कोई ऐसा स्पष्ट सन्दर्भ नहीं मिलता जिसमें सांख्य सम्प्रदाय में वर्णाश्रम व्यवस्था को अनुचित ठहराया हो अथवा उसका खण्डन किया हो। फिर भी कहा जा सकता है कि वर्णव्यवस्था वेद के द्वारा स्वीकृत है तथा उसे समाज में व्यवस्था स्थापित करने हेतु एक वैदिक उपाय कहा जा सकता है जिसका उद्देश्य सामाजिकों को सुखी करना बताया जाता है । वर्णव्यवस्था को वैदिक उपाय के रूप में स्वीकार करते ही स्थिति बदल जाती है क्योंकि सांख्य का मत है कि वैदिक उपाय में स्वरूपतः तीन दोष होते हैं–

१) अविशुद्धियुक्तता

२) क्षययुक्तता और

३) अतिशययुक्तता

१. **अविशुद्धियुक्तता:**– निश्चय ही वर्णाश्रम व्यवस्था के बारे में कहा जा सकता है कि *यह एक अविशुद्ध अर्थात् अपवित्र व्यवस्था है क्योंकि यह व्यवस्था शक्ति प्राप्त लोगों को विशेषाधिकार प्रदान करती है तथा आम असहाय जनता के लिये कोई जनाधिकार तय नहीं करती, इसके विपरीत वह तो दण्ड व्यवस्था में भी यह निर्धारित करती है कि सुशिक्षित व्यक्ति के एक अपराध करने पर उसे कम दण्ड दिया जाय तथा उसी अपराध के लिये अशिक्षित एवं सेवक समुदाय को अत्यन्त कठोर दण्ड दिया जाय। शिक्षा जो मानव की उन्नति, विकास, संस्कृति एवं सभ्यता की कुञ्जी है उसे केवल विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के एकाधिकार में स्थापित करती है । अर्थात् जो व्यवस्था समाज के एक बहुत बड़ेसमुदाय का सभ्यता एवं संकृति सीखने से वंचित करती है, वह निश्चय ही अपवित्र कही जा सकती है ।* इतना ही नहीं यह व्यवस्था मानव वर्ण की माँ अर्थात् नारी को भी मानवीय स्वतंत्रता से वंचित करती है । जो व्यवस्था माँ को भी गुलाम बनाती है वह तो घोर असभ्यता, असंस्कृतता, अशिष्टता और अपवित्रता की पराकाष्ठा है । इस व्यवस्था में किये जाने वाले यज्ञों में पशुओं की हत्या को अहिंसा कहा गया है । इससे बड़ी अपवित्रता एवं निकृष्टता और क्या हो सकती है?

२. क्षययुक्तता:– निश्चय ही वर्णव्यवस्था क्षय अर्थात् विनाश की ओर जाने वाली व्यवस्था है । इस तथ्य का विवेचन इस प्रकार किया जा रहा है–

१) यह व्यवस्था समाज के कुछ विशेष वर्गों को असीमित अधिकार प्रदान करती है जिसके कारण उन वर्गों का पथभ्रष्ट होना स्वाभाविक है तथा उनकी इस पथभ्रष्टता का परिणाम भारतवर्ष कई शताब्दियों से भुगतता आ रहा है ।

२) वर्णव्यवस्था के कारण देश आत्मरक्षा में सर्वथा अयोग्य रहा है क्योंकि युद्ध का कार्य केवल एक ही वर्ग कर सकता है । अन्य वर्गों का युद्ध में भाग लेना अधार्मिक है । इसके कारण देश को जो कुछ क्षति हुई, वह अपूरणीय है ।

३) समाज के विभिन्न वर्गों में एकता स्थापित का सबसे अच्छा उपाय है सभी वर्गों में रक्त संबन्धों की स्थापना। वर्णव्यवस्था इसके ठीक विपरीत कार्य करती है । इसके अनुसार समाज के विभिन्न वर्गों में प्रतिलोम विवाह तो एक बहुत बड़ा अपराध है । अनुलोम विवाह होने पर भी अपने से निम्न वर्ण की पत्नी को सामाजिक, साम्पत्तिक एवं धार्मिक रूप से हीन बनाये रखने की मजबूत व्यवस्था की गयी है । इससे वर्णसंकर सन्तानों से नई जातियाँ उत्पन्न हुई और समाज में विषमता और अधिक बढी। इससे भी समाज एवं देश निरन्तर अधोगति की ओर जाता रहा।

इसी तरह वर्णव्यवस्था के पतनकारी चरित्र के अनेक आयामों की विशद व्याख्या की जा सकती है परन्तु यह विषयान्तर होगा ।

३. अतिशययुक्तता:– वर्णाश्रम व्यवस्था अतिशय प्रदर्शन का तंत्र होने के कारण इसमें लाभ की संभावना बहुत ही कम होती है और वह भी विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों को ही होता है । उदाहरण के लिये वर्णव्यवस्था के बारे में प्रायः कहा जाता है कि यह व्यवस्था कर्म–प्रधान है तथा इससे कार्य कुशलता के विकसित होने की संभावना बढ़ जाती है । किन्तु परिणाम इसके विपरीत ही रहा है । जैसे ब्राह्मणों ने कोई महत्त्वपूर्ण विश्वोपयोगी सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया, सिर्फ वेद वाक्यों को सुरक्षित रखने के अलावा। ऐसे ही क्षत्रियों ने भी युद्ध संबन्धी नई तकनीकों का विकास कभी नहीं किया जिससे देश को अपार क्षति हुई। यहाँ के वैश्यों ने भी व्यावसायिक विकास के लिये कोई रचनात्मक योजना प्रस्तुत नहीं

की तथा शूद्रों ने भी अपने कार्यों में कभी अपेक्षित एवं आवश्यक कार्य कुशलता का प्रदर्शन नहीं किया । इस तरह वर्णव्यवस्था वस्तुस्थिति को कम और बड़बोलेपन को अधिक केन्द्र में रखती है ।

अवैदिकता का शङ्कर निर्दिष्ट दूसरा मानदण्ड है–"श्रुति की व्याख्या स्मृति के अनुसार होनी चाहिये।" निश्चय ही यह मानदण्ड साक्षात्रूपेण सांख्य से सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि सांख्य का उद्देश्य दुःख मुक्ति है जबकि श्रुति का उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति है ।[१६१] दूसरा महत्त्वपुर्ण तथ्य यह है कि सांख्य वेद और वैदिक उपायों को भी अत्यन्त हीनदृष्टि से देखता है । इसलिए भी सांख्य के सन्दर्भ में श्रुति की व्याख्या का कोई महत्त्व नहीं भले ही वह स्वतंत्र रूप से की गयी गयी हो अथवा सायण, माधव आदि की भाँति मनु आदि स्मृतियों के अनुसार की गयी हो।

वैदिकता का शङ्कर निर्दिष्ट तीसरा मानदण्ड है–"ईश्वर में विश्वास" इसका भी सांख्य से प्रत्यक्षरूपेण कोई सम्बन्ध नहीं है । लेकिन परोक्ष रूप से सांख्य ईश्वरवाद का पूर्णरूपेण खण्डन करता है, क्योंकि सांख्य के सिद्धान्तों से ईश्वर की आवश्यकता से सम्बन्धित सभी तर्क भूमिसात् हो जाते है । इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

१) ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर जगत् का रचयिता है, जबकि सांख्य के अनुसार त्रिगुण ही जगत् की अन्तिम संरचनात्मक इकाई है[१६२] और वे भी एक दूसरे को उत्पन्न करते रहते है ।[१६३] इससे सृष्टि को उत्पन्न करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। जब सृटि रचना की आवश्यकता ही नहीं रहती है तो रचनाकार की आवश्यकता स्वतः ही समाप्त हो जाती है ।

२) ईश्वरवाद के अनुसार जीव का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर का साक्षात् करना है । इसी अवस्था को ईश्वरवाद के अनुसार मोक्ष कहा जाता है । इसके ठीक विपरीत सांख्य के अनुसार व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य दुःखों से ऐकान्तिक एवं अत्यान्तिक रूप से मुक्तिहै । इसके लिये आवश्यक है कि वह व्यक्त, अव्यक्त तथा पुरुष का सही– सही विवेक प्राप्त करे और इस प्रकार सांख्य के

---

[१६१] स्वर्ग कामो यजेत्

[१६२] त्रिगुणनविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥ सांख्यकारिका

[१६३] प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥१२॥ सांख्यकारिका

अनुसार व्यक्ति की उच्चतम स्थिति केवल पुरुषमात्रता प्राप्त करना है । इस स्थिति में व्यक्ति स्वयं के अतिरिक्त किसी से युक्त नहीं होता, सबसे विमुक्त हो जाता है जिसका सांख्यानुसारी नाम केवल्य है । जबकी ईश्वरवाद के अनुसार व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर संयोग प्राप्त करता है ।

३) ईश्वरवाद के अनुसार दुःख का कारण यज्ञादि कर्म न करना और ईश्वरभक्ति न करना तथा ईश्वर संयोग न हो पाना है । इसके ठीक विपरीत सांख्य के अनुसार दुःख का मूल कारण संयोग है और संयोग से मुक्ति प्राप्त करना ही सुख का कारण है । यद्यपि सांख्य के अधिकतर प्रामाणिक ग्रन्थ ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु विज्ञानभिक्षु के सांख्यप्रवचनभाष्य नामक ग्रन्थ में उपलब्ध सांख्यसूत्रों में ईश्वर का समर्थन मिलता है । यहाँ तीन बाते विशेष रूप से विचारणीय है ।

प्रथम– विज्ञानभिक्षु एक वैष्णव आचार्य थे जो महर्षि कपिल को भी विष्णु का अवतार घोषित करते हैं तथा ब्रह्मसूत्रों पर भी भाष्य लिखते हैं इसलिए उनके ग्रन्थ को प्रामाणिक मानना संभव नहीं है ।

द्वितीय– ईश्वर का सिद्धान्त सांख्य दर्शन की जगत् व्याख्या के अनुसार सर्वथा अनावश्यक है । इसलिए यह कुछ स्वार्थों के चलते सांख्य में प्रवाहित कर दिया गया।

तृतीय– विज्ञानभिक्षु के सांख्यप्रवचनभाष्य में बौद्ध आदि अनेक परवर्ती दर्शनों की भी समीक्षा उपलब्ध होती है जिससे इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता स्वतः सन्दिग्ध सिद्ध हो जाती है ।

इस प्रकार ईश्वर में विश्वास की दृष्टि से भी सांख्य एक अवैदिक दर्शन सिद्ध होता है ।

वैदिकता का शङ्कर निर्दिष्ट अन्तिम मानदण्ड सर्वात्मभाववाद है । सर्वात्मभाववाद के अनुसार व्यक्ति स्वयं को आत्मा मानता है तथा अन्य सभी व्यक्तियों में भी आत्मा का अस्तित्व मानता है और जगत् के नियन्ता के रूप में परमात्मा का अस्तित्व मानता है । अपनी आत्मा के सबकी आत्माओं में तथा सबकी आत्माओं के अपनी आत्मा में तथा अपनी आत्मा में परमात्मा के तथा परमात्मा के अपनी आत्मा में स्थित होने की भावना का अभ्यास करते है । इससे व्यक्ति अन्य सभी लोगों से तथा परमात्मा से अपने आपको सम्बद्ध महसूस करता है । सांख्य की साधना पद्धति के अनुसार यह अच्छी स्थिति

नहीं है बल्कि एक विकृत अवस्था है । इसके ठीक विपरीत सांख्य दर्शन के अनुसार निःसम्बद्धता अर्थात् कैवल्य ही यथार्थतया दुःखमुक्ति की अवस्था है तथा सम्बद्धता दुःख का मूल है ।

इससे भी सांख्य अवैदिक ही सिद्ध होता है । उपर्युक्त सम्पूर्ण समीक्षा से यही सिद्ध होता है कि सांख्य की अवैदिकता के बारे में आचार्य शङ्कर का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म, वैज्ञानिक एवं तर्क तथा युक्ति संगत है । इसके लिये निःसन्देह आचार्य शङ्कर प्रशंसा के पात्र हैं तथा उनका नीर-क्षीर विवेक वन्दनीय है ।

अब यहाँ एक अन्य तथ्य विचारणीय है कि सांख्य आप्तवचन को प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है । जिससे सांख्य के सामान्य अध्येताओं को यह भ्रान्ति हो सकती है कि आप्तवचन मानने के कारण सांख्य वैदिक दर्शन है । किन्तु ऐसा नहीं है । सामान्य अध्येता के इस निष्कर्ष पर पहुँचने के दो कारण हैं-

१) सभी वैदिक दर्शनों , न्याय, वैशेषिक, मीमांसा व वेदान्त में शब्द प्रमाण के रूप में वेदों को स्वीकार किया गया है । इसलिए सांख्य में भी प्रत्यक्ष एवं अनुमान के अतिरिक्त तीसरे प्रमाण के रूप में आप्तवचन को स्वीकार किया जाना ।

२) सांख्य के द्वारा आप्तवचन शब्द को परिभाषित न किया जाना ।

जहाँ तक प्रथम पक्ष का सम्बन्ध है । इस विषय में यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि वैदिक दर्शनों में मन्त्रों के रूप में उपलब्ध वैदिक शब्दों को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है । मूलतः आप्त शब्द सांख्य की देन है और सांख्य की समाज में अत्यन्त स्वीकार्यता होने के कारण वेद को समाज में स्वीकृत करवाने के लिये वैदिक संप्रदायों के द्वारा आप्त शब्द का उपयोग किया गया तथा कभी वैदिक ऋषियों को तो कभी ईश्वर को आप्त शब्द के अर्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है ताकि वैदिक सम्प्रदायों को समाज में मान्यता मिल सके। इतना ही नहीं अनेक दूसरे लौकिक संप्रदाय अपने साम्प्रदायिक पूज्य ग्रन्थों को आगम कहते थे तो उस समय वैदिकों ने भी वेदों को श्रेष्ठ प्रदर्शित करने के लिये निगम शब्द से अभिहित किया, किन्तु समाज में लौकिक सम्प्रदायों का सम्मान अधिक होने के कारण वैदिकों को भी अपने पूज्य ग्रन्थ वेदों को आगम शब्द से अभिहित करना पड़ा ।

अब दूसरे पक्ष पर विचार किया जा रहा है । जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जब सांख्य में आप्त शब्द को परिभाषित ही नहीं किया गया तो यह कैसे माना जा सकता है कि सांख्य में आप्त का अर्थ ईश्वर नहीं है और यदि आप्त शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है तो सांख्याचार्यों को आप्त शब्द से कौनसा अर्थ अभिप्रेत था । सांख्य में आप्त शब्द जानने के लिये तीन तथ्यों पर ध्यान देना होगा ।

१) सांख्य दर्शन के सिद्धान्त

२) सांख्य का लक्ष्य तथा लक्ष्य की प्राप्ति के उपाय और

३) सांख्य के ज्ञान का स्रोत

जहाँ तक सांख्य के सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, सांख्य में ईश्वर जैसा कोई तत्त्व नहीं माना गया है, जो ज्ञान का स्रोत हो। इसलिए सांख्य के सिद्धान्तों के प्रकाश में यह स्वीकारना तो संभव ही नहीं है कि सांख्य में आप्त का अर्थ ईश्वर है । इसलिए अब दूसरे पक्ष पर विचार करना समीचीन होगा ।

सांख्य अपना उद्देश्य दुःखों की आत्यन्तिक एव ऐकान्तिक निवृत्ति के रूप में घोषित करता है तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उपाय रूप में व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात् कहते हुए व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के विवेक ज्ञान को स्वीकार करता है । इतना ही नहीं, सांख्य दुःखनिवृत्ति के तुच्छ एवं निषेधात्मक उपायों का विरोध भी करता है और इन उपायों के रूप में वह सामान्य उपाय एवं वैदिक उपायों को अभिप्रेत मानता है । अर्थात् सांख्य वैदिक ऋषियों एवं वैदिक देवताओं एवं वैदिक परमेश्वर को आप्त शब्द के अर्थ के रूप में ग्रहण किये जाने की संभावना को ही समाप्त कर देता है ।

अब इसके तृतीय पक्ष पर विचार किया जाता है कि सांख्य दर्शन की परम्परा में ज्ञान का स्रोत किसे माना गया है । सांख्य के परम ऋषि कपिल और उनके पश्चात् उनकी परम्परा के आचार्यों को ज्ञान के प्रामाणिक स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है । अर्थात् सांख्य में आप्त शब्द का अर्थ है परम ऋषि कपिल तथा उनके सिद्धान्तों के अनुसार विवेचन करने वाले सांख्य परम्परा के आचार्य।

इस प्रकार सांख्य के आप्तवचन का अर्थ हुआ परम ऋषि कपिलमुनि तथा कपिल सम्मत विवेचक आचार्यों के वचन ।

अध्याय–२

प्रकृति संबन्धी आलोचना की समीक्षा

सांख्य को अवैदिक सिद्ध करने के पश्चात् आचार्य शङ्कर ने सांख्य के जिस पक्ष की सबसे अधिक आलोचना की है वह प्रधान नामक तत्त्व जो, सांख्य के अनुसार, जगत् की रचना के लिए एक मात्र उत्तरदायी कारण है । सांख्य के अनुसार प्रधान त्रिगुणात्मक तथा अचेतन है । यही समस्त जगत् की रचना करता है तथा यही चेतन अस्तित्व को भोग सामग्री और भोगसाधन तथा कैवल्य प्राप्त कराता है । इस अध्याय में आचार्य शङ्कर द्वारा की गयी प्रधान की आलोचनाओं की समीक्षा की जा रही है ।

१. *चेतन से अनधिष्ठित स्वतन्त्र अचेतन किसी विशिष्ट (श्रेष्ठ) पुरुषार्थ(प्रयोजन) के साधन में समर्थ विकारों को रचता हुआ लोक में नहीं देखा गया है । गृह, महल, शय्या, आसन, क्रीडा, के स्थानादि जो समय के अनुसार सुख प्राप्ति और दुःख निवारण के योग्य होते हैं वे लोक में बुद्धिमान शिल्पियों द्वारा ही रचे हुए देखे गये हैं*[१६४]

समाधान आचार्य शङ्कर द्वारा प्रस्तुत उदाहरण अत्यन्त स्थूल है तथा सांख्योक्त प्रधान अत्यन्त सूक्ष्म है ।[१६५] इसलिए स्तरभिन्न होने से निष्कर्ष भी स्वाभाविक रूप से भिन्न ही होंगें। जैसे कहा जाये कि चूल्हे

---

[१६४] नाचेतं लोके चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं किञ्चिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान्विकारान्विरचयद् दृष्टम्। गेहप्रासादशयनासनविहारभुम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, प्रथम सूत्र का भाष्य।

[१६५] सौक्ष्म्यातदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः।

महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥८॥ सांख्यकारिका

अविवेकक्यादेस्सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।

कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥ सांख्यकारिका

भेदानां परिमाणात्, समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।

की आग को कोई न कोई मनुष्य (चेतन) ही जलाता है। इसलिए सूर्य में विद्यमान आग को भी किसी न किसी चेतन ने ही जलाया होगा, तो यह सर्वथा अप्रसाङ्गिक एवं अयुक्ति संगत होगा क्योंकि सूर्य की अग्नि और चूल्हे की अग्नि का स्तर एक ही नहीं है । यदि चेतन ज्वालक की आवश्यकता को स्वीकार किया जाये तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सूर्य में विद्यमान अग्नि को प्रज्वलित करने वाले चेतन के सूर्य की अग्नि के अनुसार ही अत्यन्त विशाल हाथ होने चाहिए तथा उन हाथों को धारण करने वाला और भी विशाल शरीर वाला होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता ।

शङ्कर द्वारा उठाई गयी उपरोक्त शंका निराधार है, जगत् को मिथ्या मानने वाले वेदान्त के आचार्य शङ्कर को तो कम से कम यह नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार अति सूक्ष्म अचेतन प्रधान की कारणता की सिद्धि संसार के सभी पदार्थों में त्रिगुण की विद्यमानता से होती है तथा यह व्यवहार में भी देखी जाती है । यहाँ प्रस्तुत उदाहरण अति स्थूल हैं तथा एक अलग ढ़ंग से प्रस्तुत किये गये है । यदि उपर्युक्त उदाहरण "गृह, महल, शय्या, आसन, क्रीडा, के स्थानादि जो समय के अनुसार सुख प्राप्ति और दुःख निवारण के योग्य होते हैं वे लोक में बुद्धिमान शिल्पियों द्वारा ही रचे हुए देखे गये हैं" को वेदान्त के अनुसार देखा जाय तथा कहा जाय कि क्या इनकी रचना ब्रह्म ने की है तो उनका जबाब क्या होगा?

वेदान्त दर्शन सम्पूर्ण अस्तित्व को ब्रह्ममय मानता है । यादि आचार्य शङ्कर की पद्धति का अनुसरण करते हुए ही तर्क किया जाये तो स्वयं उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित माया और ब्रह्म दोनों खण्डित हो जायेंगे, क्योंकि लौकिक जगत् में किसी भी पदार्थ में न तो ब्रह्म दिखता है और न माया दिखती है तथा न ही लौकिक जगत् में चेतन ब्रह्म से कोई कार्य होते हुए देखा गया है ।

२. *नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म, सुख, दुःख, फल और उसके साधनरूप उपभोगयोग्य पदार्थात्मक पृथ्वी आदि रूप सम्पूर्ण बाह्य जगत् है और अनेक कर्मफल-भोगों के अधिष्ठान आश्रयरूप जो प्रत्यक्ष दृश्यमान नानाजातियुक्त प्रतिनियत(असाधारण) अवयव विन्यास(रचना) वाले आध्यात्मिक*

कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥ सांख्यकारिका

कारणमसत्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।

परिमाणतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥ सांख्यकारिका

शरीरादि रूप जगत् है, वह सम्भावितम(अत्यन्त श्रेष्ठ) बुद्धिमान शिल्पियों के मन से भी चिन्तन के अयोग्य होता हुआ अचेतन प्रधान से कैसे रचा जायेगा?[१६६]

समाधान–

जगत् का विस्तार असीम है । इसलिए इसके अनन्त पदार्थ रूप हैं तथा उनके अनन्त गुण हैं, अतः सम्पूर्ण जगत् को सम्यग्रूपेण' जानना सवर्था असंभव है । वेद भी इसका समर्थन करता है । (नासदीय सूक्त अन्तिम मंत्र)[१६७]। जटिल संरचनाओं के निर्माण की संभवता को समझने के लिये सर्वप्रथम पदार्थ की सगुणता पर विचार करना अत्यन्तावश्यक है संसार में कोई पदार्थ निर्गुण नहीं हो सकता। सभी पदार्थ किसी न किसी गुण से युक्त है । इन गुणों के कारण ही एक पदार्थरूप दूसरे के गुणों को प्रभावित करता है । संसार में पदार्थ के अनन्त रूप हैं इसलिए कौन सा पदार्थरूप किस पदार्थरूप को किस मात्रा व परिणाम तक तथा किस प्रकार प्रभावित करता है, इसका सर्वथा शुद्ध विवरण प्रस्तुत करना बिल्कुल संभव नहीं है तो भी इतना तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि एक पदार्थरूप दूसरे पदार्थरूप को निश्चय ही प्रभावित करता है । जैसे जलाशय आदि में विद्यमान जल तथा वर्षा आदि के जल को सूर्य की किरणें प्रभावित करती हैं जिससे वह वाष्प बन जाता है तथा पृथ्वी की आन्तरिक क्रियाओं तथा दूसरे ग्रहों, उपग्रहों तथा तारों आदि के प्रभाव के कारण पृथ्वी के तापमान में होने वाली प्रवृद्धि वायुमण्डल में विद्यमान वाष्प को प्रभावित करती है जिससे वह पुनः जल के रूप में बरसता है । इसी प्रकार बिना किसी चेतन की सहायता के जटिल से जटिल संरचनाएँ भी बन जाती है।

---

[१६६] तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः सम्भावितममैः शिल्पिभिर्मनसाप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत्। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, प्रथम सूत्र का भाष्य।

[१६७] ऋग्वेद १०/१२९/७

३. क्योंकि अचेतन लोष्ट–पाषाण आदि में रचनाकर्तृत्व नहीं देखा जाता है।[१६८]

समाधान:–

आचार्य शङ्कर कि आपत्ति है कि अचेतन में रचनाकर्तृत्व नहीं होता है जबकि ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में गुण होते हैं और उन गुणों के अपने प्रभाव भी होते हैं जिनके कारण वे अन्य पदार्थों को कमोबेश प्रभावित करते है । जैसे जल का स्वभाव देर से गर्म होना है और स्थल का स्वभाव जल की अपेक्षा शीघ्र गर्म होना है । इसी कारण समुद्र की ओर से आने वाली हवा ठण्डी होती है और स्थल की ओर से आने वाली हवा अपेक्षाकृत गर्म होती है । इसीप्रकार सूर्य की ऊष्मा से पानी गर्म होकर वाष्प के रूप में ऊपर उठता है ठण्डे वातावरण के संपर्क में आकर संघनन के कारण वर्षा होती है । इस प्रकार स्पष्टतः अचेतन पदार्थों में भी रचनाकर्तृत्व व्यवहार में देखा जाता है । किन्तु यह रचनाकर्तृत्व उनके स्वभाव एवं विशेष गुणों पर निर्भर करता है और उनकी इस कार्य प्रणाली को समझना एक विज्ञान है । लेकिन पत्थरादि किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा के अनुसार कार्य करें तभी उनके रचनाकृर्तत्व को स्वीकार किया जायेगा, यह बात बिल्कुल भी तर्कपूर्ण नहीं लगती। सांख्य भी अचेतन से ही सृष्टि की अभिव्यक्ति की बात करता है जो बिल्कुल तर्कपूर्ण एवं व्यवहार सिद्ध है ।

३. कुम्भकारादि से अधिष्ठित मृदादि में ही विशिष्ट आकारवाली रचना देखी जाती है इससे प्रधान को भी मृत्तिकादि के ही समान कार्य करने में चेतनान्तर से अधिष्ठितत्व का प्रसङ्ग(अवसर) प्राप्त होता है।[१६९] *मृत्तिकादि समन्वित उपादान कारणस्वरूप का आश्रयण करके उसके आश्रित रहने वाले धर्म द्वारा ही मूल कारण का अवधारण करना चाहिए, और बाह्य कुम्भकारादि के आश्रयण*

---

[१६८] लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात्। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, प्रथम सूत्र का भाष्य।

[१६९] मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत्प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसंङ्गः। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, प्रथम सूत्र का भाष्य।

द्वारा उसके समान अधिष्ठाता चेतन कर्त्ता का अवधारण नहीं करना चाहिए, इससे कोई नियामक हेतु नहीं है।[१७०]

आक्षेप

आचार्य शङ्कर का यहाँ आक्षेप है कि जिस प्रकार मिट्टी आदि से अपने आप सुन्दर घड़े आदि बर्तन नहीं बनते हैं उनको बनाने में जिस प्रकार कुम्भकार आदि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रधान भी अकेले सृष्टि प्रक्रिया करने में समर्थ नहीं हो सकता उसे भी किसी कुम्भकार की तरह चेतन सत्ता के सहारे की आवश्यकता होती है ।

समाधान

- **पदार्थ की सगुणता–** संसार में कोई पदार्थ निर्गुण नहीं हो सकता। सभी पदार्थ किसी न किसी गुण से युक्त है । इन गुणों के कारण ही एक पदार्थरूप दूसरे के गुणों को प्रभावित करता है । संसार में पदार्थ के अनन्त रूप हैं इसलिए कौनसा पदार्थरूप किस पदार्थरूप को किस मात्रा व परिणाम तक तथा किस प्रकार प्रभावित करता है, इसका सर्वथा शुद्ध विवरण प्रस्तुत करना बिल्कुल संभव नहीं है तो भी इतना तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि एक पदार्थरूप दूसरे पदार्थरूप को निश्चय ही प्रभावित करता है । जैसे जलाशय आदि में विद्यमान जल तथा वर्षा आदि के जल को सूर्य की किरणें प्रभावित करती हैं जिससे वह वाष्प बन जाता है तथा पृथ्वी की आन्तरिक क्रियाओं तथा दूसरे ग्रहों, उपग्रहों तथा तारों आदि के प्रभाव के कारण पृथ्वी के तापमान में होने वाली प्रवृद्धि वायुमण्डल में विद्यमान वाष्प को प्रभावित करती है जिससे वह पुनः जल के रूप में बरसता है । इसी प्रकार बिना किसी चेतन की सहायता के जटिल से जटिल संरचनाएँ भी बन जाती है ।

---

[१७०] न च मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण मूलकारणमवधारईयं, न बाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किञ्चिन्नियामनस्ति। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, प्रथम सूत्र का भाष्य।

❖ अपने उपयोग के लिये पदार्थ को एक विशेष रूप में ढालना तथा रचना करना दोनों अलग-अलग क्रियाएँ है । जैसे - व्यक्ति गेहूँ नहीं बना सकता किन्तु उससे आटा बनाकर रोटी बना सकता है ।

५. *और कुलादि के समान मूल कारण प्रधान का चेतन अधिष्ठाता मानने पर कुछ विरुद्ध नहीं होता है कि जिसके भय से चेतन अधिष्ठाता नहीं माना जाय, उलटा चेतन अधिष्ठाता को मानने पर श्रुति अनुगृहीत होती है, क्योंकि वह चेतन कारण का समर्पण-बोधन कराती है । इससे और रचना की अनुपपत्तिरूप हेतु से अचेतन जगत् का कारण अनुमान के योग्य नहीं है ।*[७१]

आक्षेप

आचार्य शङ्कर यहाँ शंका करते हैं कि कुलालादि के समान प्रधान का कोई अधिष्ठाता मानना चाहिए और ऐसा करने पर कोई विरोध भी नहीं है तथा श्रुति भी अनुगृहीत होती है । ऐसा मानने पर प्रधान के रचना कार्य पर अनुपपत्ति दोष भी नहीं रहेगा। ऐसा नहीं होने से अचेतन प्रधान जगत् का कारण अनुमान के योग्य नहीं है

समाधान

चेतन अधिष्ठाता को मानने के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याएँ-

शरीर की समस्या- कुम्हार आदि के प्रत्यक्षः शरीर देखे जाते हैं यदि कुम्हार आदि के आधार पर ही अचेतन प्रधान का अधिष्ठाता किसी चेतन को माना जाय तो उसी के आधार पर उस चेतन को सशरीर भी मानना पड़ेगा किन्तु ऐसा सशरीर चेतन उपलब्ध ही नहीं होता ।

उपकरण की समस्या-

---

[७१] न चैवं सति किञ्चिद्विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते चेतनकारणसमर्पणात्। अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, प्रथम सूत्र का भाष्य।

कुम्भकार मिट्टी आदि से घटादि बनाने में इस लिये सफल होते हैं क्योंकि उनके पास सभी आवश्यक उपकरण होते हैं यदि अचेतन प्रधान का अधिष्ठाता किसी चेतन को माना जाये तो उसके किये उपकरणों की आवश्यकता होगी तथा ये उपकरण भी कहीं उपलब्ध नहीं होते।

उद्देश्य की समस्या–

कुम्भकार मिट्टी से घड़ा इसलिए बनाता है कि उसे घडे के बदले में अपने जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध हो सके। यदि अचेतन प्रधान का अधिष्ठाता किसी चेतन को माना जाय तो उसका कोई भी उद्देश्य कोई ईश्वरवादी सम्प्रदाय स्पष्ट नहीं करता तथा न ही कोई विचारक उसका सही–सही उद्देश्य बता सकता है ।

पृथक्त्व की समस्या–

कुम्भकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न होता है और भिन्नत्व के कारण वह घड़ा बना पाता है इसलिए अचेतन प्रधान से सृष्टि करने के लिये सृष्टिकर्त्ता चेतन को सर्वथा अलग रहना पड़ेगा या फिर अचेतन प्रधानरूपी अपने शरीर से भिन्न किसी और ही सामाग्री से सृष्टि रचना करनी पड़ेगी। ये दोनों ही स्थितियाँ संभव नहीं है । इसलिए अचेतन प्रधान का अधिष्ठाता किसी चेतन को मानना न केवल पुरुषप्रकृतिवादी सांख्यों के लिये अपितु स्वयं ईश्वरवादियों के लिये भी समस्या जनक होगा, इसलिए उसे न मानना ही युक्तिसंगत रहेगा ।

६. *जिस अन्वयादिरूप हेतु से प्रधान का अनुमान सांख्यवादी करते हैं, उस अन्वयादि की अनुपपत्ति से भी प्रधान का अनुमान नहीं हो सकता है ।*[१७१]

समाधान

सांख्यदर्शन ने एक बार भी यह नहीं कहा कि शब्दादि सुख स्वरूप, दुःख स्वरूप या मोह स्वरूप है । अतः स्पष्ट है कि आचार्य शङ्कर द्वारा सांख्य का अपप्रस्तुतीकरण किया गया है । फिर भी

---

[१७१] अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति च–शब्देन हेतोर्सिद्धि समुच्चिनोति। नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयान्वय उपपद्यते, सुखादीनां चान्तरत्वप्रतीतेः:, शब्दादीनां चातद् पत्वप्रतीतेः। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, प्रथम सूत्र का भाष्य।

इतना तो कहा ही जा सकता है कि यदि शब्द सात्त्विक परिस्थिति में, सात्त्विकभाव से सात्त्विक श्रोता को बोला जाता है तो वह प्रसन्नता ही देगा तथा यदि राजसिक परिस्थिति में तथा राजसिक भावना के साथ और राजसिक मनोदशा वाले श्रोताओं के लिये बोला जता है तो वह निश्चय ही अप्रसन्नता उत्पन्न करेगा ।

७. अन्यथा सबको एक सी उपलब्धि होनी चाहिए इसी प्रकार मूल–अंकुरादि रूप परिमित विकारों को संसर्गपूर्वकत्व देख कर बाह्य आध्यात्मिक सब विकारों को परिमितत्व हेतु से संसर्गपूर्वककत्व का अनुमान करने वाले को सत्त्व, रज और तमोगण को भी संसर्गपूर्वकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि इनमें भी अंकुरादि के समान ही परिमितत्व है । और विचारपूर्वकत्व निर्मित शय्या आसनादि का भी कार्य–कारण भाव देखा गया है । इससे कार्य–कारण भाव से बाह्य आध्यात्मिक विकारों की अचेतनपूर्वकता की कल्पना कर सकते है । इससे चेतनाधिष्ठित मायाजन्य संसार है ।[१७३]

समाधान

सभी पुरुषों की जन्म व्यवस्था, मरण व्यवस्था और अन्तःकरण व्यवस्था और बाह्य करणों की व्यवस्था अलग–अलग है और इसके कारण अयुगपत् प्रवृत्ति होने के कारण ही सबको विषयों की एक जैसी उपलब्धि नहीं होती।[१७४] जैसे– एक नवयुवती एक शिशु का चुम्बन करती है तो उस शिशु को वैसी ही अनुभूति नहीं होगी जैसी कि एक युवक को यह देखने मात्र से ही हो जाती है ।

७. इस रचना की बात को तो रहने ही दो, उस रचना की सिद्धि के लिये जो प्रलयकालिक त्रिगुण के साम्यवस्था से वैषम्यप्राप्ति, उसके बाद सत्त्व, रज और तमोगुण को अङ्गाङ्गिभाव रूपता की प्राप्ति, और उसके बाद विशिष्ट कार्यों के अभिमुख(कार्यों के उपादान) में प्रवृत्तितारूप प्रवृत्ति है,

---

[१७३] शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीते तन्निमित्तत्वप्रतीश्च शब्दाद्याविशेषेऽपि च भावनाविशेषात्सुखादिविशेषोपलब्धेः। तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादिनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्संसर्गपूर्वकत्वममिमानस्य सत्त्वरजसामपि संसर्गपूर्वत्वप्सङ्गः परिमितत्वात्वाविशेषात् । कार्याकारणभावस्त् प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद्बाह्याध्याअत्मिकानां भेदानामच्चपूर्वकत्वं कल्पयितुम् ॥ ! ॥

[१७४] जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च । ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, २/२/१

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुणविपर्याच्चैव ॥१८। सांख्यकारिका

वह भी स्वतंत्र अचेतन प्रधान को नहीं सिद्ध कर सकती है, क्योंकि अचेतन मृत्तिकादि में और रथादि में स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। और जिससे अचेतन मृत्तिकादि वा रथादि स्वयं अचेतन होते हुए, चेतन कुललादि वा अश्वादि से अनधिष्ठित होकर विशिष्ट कार्य के अभिमुख प्रवृत्ति वाले नहीं देखे जाते हैं, और दृष्ट हेतु से अदृष्ट साध्य की सिद्धि होती है तथा प्रत्यक्षदृष्ट दृष्टान्त से अदृष्ट की सिद्धि मानी जाती है। अदृष्ट प्रधान दृष्ट-दृष्टान्त सदृश ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए प्रवृत्ति की असिद्धिरूप हेतु से भी अचेतन जगत् का कारण अनुमान के योग्य नहीं है।[१७५]

समाधान

सांख्य के अनुसार प्रलय होती ही नहीं है क्योंकि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों निरन्तर एक दूसरे को अभिभूत करते रहते हैं, आश्रय देते रहते हैं, उत्पन्न भी करते रहते हैं और सहचारी भी बने रहते हैं तथा देवीभागवत पुराण में उपलब्ध त्रिगुण के वर्णन में तो यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि गुणों के सहभाव का कोई प्रथम संयोग या प्रथम वियोग उपलब्ध नहीं होता।[१७६]

---

[१७५] आस्तां तावदियं रचना, तत्सिद्ध्यर्था या प्रकृतिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिववनिधिष्ठाता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तियो दृश्यन्ते, दृष्टाच्चदृष्टसिद्धिः, अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, द्वितीयसूत्र का भाष्य।

[१७६] "अन्योऽन्यमिथुनवृत्तयः" । अन्योऽन्यसहचराः, अभिभाववृत्तयः इति यावत् 'च' समुच्चये । भवति चाऽत्रागमः-

"अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः ।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥
तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे ।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते" ॥ इति देवी भागवत् पुराण, ३/८, व्यख्या तत्त्वकौमुदी, कारिका १२, सांख्यतत्त्वकौमुदी

९. *सिद्धान्ती कहते हैं कि केवल चेतन की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है यह कथन सत्य ही है, तो भी चेतनसंयुक्त रथादि अचेतन की प्रवृत्ति देखी गई है, इससे चेतनसंयुक्त जड़ में प्रवृत्ति मानने योग्य है।*[१७७]

समाधान

व्यक्ति की इच्छा और प्रवृत्ति

पदार्थों से किसी व्यक्ति की किसी विशेष कार्य हेतु अपेक्षा तथा पदार्थ के स्वाभाविक गुण एवं उनके कारण उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन दोनों में बहुत अन्तर है । ईश्वरवादी व्यक्ति की पदार्थों से यही हार्दिक अपेक्षा होती है कि वे ईश्वर के अनुशासन में रहे किन्तु पदार्थ का अपना स्वरूप उसकी अपेक्षाओं पर खरा उतरे यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है । जैसे एक ईश्वरवादी की दृष्टि में गेहूँ आदि अनाजों को ईश्वर ही उत्पन्न करता है इसके लिये वह तर्क करते हुए कहता है कि यदि ईश्वर न होता तो अनाज कैसे उत्पन्न होते। किन्तु जब यह पूछा जाता है कि वह ईश्वर खाना बनाकर क्यों नहीं देता तो वह ईश्वरवादी निश्चय ही कहेगा कि ईश्वर की अपनी भी एक सीमा होती है कि वह अपने ही बनाये नियमों को नहीं तोड़ सकता, जबकि यह उस पौधे के स्वरूप के कारण ही ऐसा होता है ।

शाङ्करवेदान्त की समस्या

आचार्य शङ्कर द्वारा स्थापित अद्वैत वेदान्त तो अचेतन की सत्ता ही नहीं मानता। अतः मुख्य समस्या सांख्य के लिये नहीं बल्कि वेदान्त के लिये है, क्योंकि **जब कुछ भी अचेतन नहीं है तो रथादि को अपने आप ही गतिमान् होना चाहिए था किन्तु ऐसा नहीं है ।**

❖ यदि आचार्य शङ्कर की यह बात मान भी ली जाय कि जड़ व चेतन की संयुक्तावस्था ही प्रवर्तमान होती है तो अद्वैत ब्रह्म का सिद्धान्त ही खण्डित हो जायेगा । इसलिए कम से कम किसी चेतनाद्वैतवादी अथवा ब्रह्माद्वैतवादी को तो जड़ पदार्थ का प्रश्न ही खड़ा नहीं करना चाहिए क्योंकि

---

[१७७] ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा। सत्यमेतत्, तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा । ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, द्वितीय सूत्र का भाष्य।

इससे सांख्य के सिद्धान्त को उतनी हानि नहीं होगी किन्तु अद्वैतवाद तो पूर्णरूप से ही खण्डित हो जायेगा।

- ❖ प्रवृत्ति को चेतन का धर्म सांख्य नहीं मानता इसीलिये २१वीं कारिका में पुरुष–प्रधान के संयोग का वर्णन करते समय पुरुष को पङ्गु अर्थात् गतिहीन कहा गया है । अन्य किसी कारिका में भी पुरुष को प्रवृत्तिमान नहीं कहा गया है । इतना ही नहीं सांख्य के अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा नहीं कहा गया है अर्थात् चेतन के प्रवृत्तिमान की बात नहीं कही गयी है क्योंकि प्रवृत्ति हमेशा अस्थिर तथा चंचल पदार्थ की ही हो सकती है । यदि इसे पुरुष का स्वाभाविक गुण मान लिया जाता तो पुरुष को कैवल्य कभी प्राप्त नहीं होता।
- ❖ वेदान्त की दृष्टि से भी चेतन को प्रवृत्तिमान मानना समस्याजनक है क्योंकि प्रवृत्ति उसी में संभव है जो गतिशील होता है तथा स्वयं प्रवृत्ति भी गतिमान् बनाती है । इसलिए यदि चेतन ब्रह्म को प्रवृत्तिमान स्वीकार किय जाता है तो वह गतिशील भी हो जायेगा। इससे शाङ्कर–अद्वैतवाद स्वतः खण्डित हो जाता है क्योंकि शाङ्कर वेदान्त ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त मानता है और कोई भी सर्वत्र व्यापक पदार्थ गतिमान् नहीं हो सकता ।

११. काष्ठादि के आश्रित भी दाह प्रकाशरूप विकार (कार्य) होते हैं, और केवल अग्नि के संयोग रहते दाहादि देखे जाते हैं और अग्नि के वियोग होने पर काष्ठदि में दाहादि नहीं देखे जाते है ।[१७८]

समाधान

अग्नि का जड़त्व

सर्वप्रथम यह बहुत ही विचारणीय तथ्य है कि जहाँ आचार्य शङ्कर चेतन की प्रवृत्ति की बात कर रहे हैं वहाँ उदाहरण अग्नि का दे रहे हैं जो कि जड़ हैं। अग्नि को चेतन तत्त्व के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया गया । अग्नि को चेतन मानने के ठीक विपरीत, कारिका ११ में व्यक्त और अव्यक्त दोनों को जड़ कहा गया है और कारिका २२ में भूतों को प्रधान का ही विकार कहा गया है अर्थात् अचेतन का विकार होने के कारण अग्नि अचेतन है ।

---

[१७८] काष्ठादिव्यपाश्रयापि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियाऽनुपलपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्संयोगे दर्शनात्तद्वियोगे चादर्शात्तद्वत्। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, द्वितीय सूत्र का भाष्य।

अग्नि का गुण दाहकत्व

आचार्य शङ्कर एक और बड़ी गलती यह करते हैं कि वे दाहकत्व को काष्ठाश्रित मानते है । आचार्य शङ्कर के युग में भी विज्ञान इतनी अविकसित अवस्था में तो नहीं था कि दाहक्त्व को काष्ठाश्रित माना जाय वैसे भी यह अत्यन्त सामान्य समझ की बात है कि दाहकत्व को किसी भी दृष्टि से किसी चेतन का गुण नहीं सिद्ध किया जा सकता।

११. जो प्रवर्तक होता है वह स्वयं भी प्रवृत्ति वाला होता है । और तुम्हारे मत में तो देह से संयुक्त आत्मा विज्ञानस्वरूपमात्र से भिन्न प्रवृत्ति की असिद्धि से उस निर्विकार निर्गुण आत्मा का प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है । यदि ऐसी शंका हो तो कहा जाता है कि प्रवर्तकत्व अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि चुम्बक के समान और रूपादि के समान स्वयं प्रवृत्तिरहित को भी प्रवर्तकत्व की सिद्धि होती है । जैसे चुम्बक रूप मणि स्वयं प्रवृत्तिरहित भी लोहा का प्रवर्तक होता है । अथवा जैसे रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्तिरहित भी नेत्रादि के प्रवर्तक होते है ।[१७१]

समाधान

किसी वस्तु को करने का अर्थ होता है, उस वस्तु को अपनी ओर खींचना । जबकि प्रवृत्त करने का अर्थ होता है गतिमान् करना। आकर्षण सदिश होता है अर्थात् उसकी एक निश्चित दिशा होती है । जबकी प्रवर्तन में ऐसा नहीं होता। प्रवर्तन में प्रवृत्त वस्तु की गति प्रवर्तक की ओर भी हो सकती है और उससे विरुद्ध भी अर्थात् अदिश होती है किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आकृष्ट पदार्थ आकर्षक से मिलकर गति रहित हो जाता है तथा उसका अन्तिम उद्देश्य भी आकर्षक से मिलना ही होता है । इसलिए यह कहना कि आकर्षण की तरह ही प्रवृत्ति भी होंती है उचित नहीं है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर द्वारा प्रवर्तित समस्त जगत् ईश्वर के पास ही पहुँचेगा अर्थात् ईश्वर भिन्न है और

---

[१७१] ननु तव देहादिसंयुक्तस्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत् । न अयस्कान्तवद्रूपादिच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रर्वतकत्वोपपत्तेः। यथाऽयस्कान्तो मणि स्वयं प्रन्तिरहितोऽयस्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, द्वितीय सूत्र का भाष्य।

जगत् भिन्न है तथा इतना ही नहीं दोनों एक दूसरे से बहुत दूरी पर स्थित है । एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आकर्षण की क्रिया एक निश्चित दूरी तक विस्तृत आकर्षण क्षेत्रों में ही संभव होती है । इसलिए आचार्य शङ्कर को यह भी बताना होगा कि ईश्वर के आकर्षण क्षेत्र की दूरी कितनी है । अर्थात् आचार्य शङ्कर का तर्क उन्हीं की मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को ध्वस्त कर रहा है ।

आचार्य शङ्कर को यह भी बताना चाहिए था कि अचेतन पदार्थों की गति ईश्वर की ओर क्यों नहीं है तथा यह भी बताना चाहिए था कि इस गति के पीछे परमात्मा का क्या उद्देश्य है । अर्थात् एक पर्वत की गति या एक टीले की गति ईश्वर की ओर क्यों नहीं होती, क्योंकि देखा जाता है कि आँधी आने पर तथा सामान्यतः तेज हवा आने पर मिट्टी के टीले से मिट्टी उड़कर किसी दूसरी जगह गिर जाती है । किन्तु ईश्वर तक नहीं पहुँचती ।

चुम्बक तभी लोहे को खींच सकती है जब उसमें विद्यमान विभिन्न सूक्ष्म कणों में अत्यधिक गतिमत्ता हो। अर्थात् एक कई अवयवों से बनी हुई वस्तु ही गति या प्रवृत्ति प्रदान कर सकती है तथा आकर्षित कर सकती है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर स्वयं एक निर्मित वस्तु है, क्या स्वयं शङ्कर अथवा वर्तमान युग का कोई भी शङ्करवादी इस तार्किक निष्कर्ष को स्वीकार करेगा।

११. अविद्या से प्रकटित नाम-रूपाऽऽत्मक माया के साथ आवेश(सम्बन्ध) के वश से उसमें कल्पित भेदादि सिद्ध होते है ।[१८०]

समाधान

आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त को स्वीकार करने पर सर्वप्रथम यह प्रश्न उभरता है कि ब्रह्म में भेदों की कल्पना किसने की स्वयं ब्रह्म ने या अविद्या ने या माया ने। यदि अविद्या ने ही भेदों कों की कल्पना की तो यह भी स्वीकार करना होगा कि अविद्या चेतन तत्त्व है, क्योंकि कल्पना करना भी एक क्रिया है जो एक चेतन ही कर सकता है । यदि कहा जाय कि संकल्प-विकल्प करने वाला तत्त्व मन अचेतन होता है चेतन नहीं तथा इसे सांख्य भी मानता है तो यह प्रश्न उठता है कि क्या अविद्या ब्रह्म का मन है । यदि ऐसा तो ब्रह्म की इन्द्रियाँ भी होनी ही चाहिए क्योंकि बिना इन्द्रियों के विषय-संस्कार प्रदान किये

[१८०] अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात् । ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, द्वितीय सूत्र का भाष्य।

मन कोई संकल्प-विकल्प नहीं कर सकता। यदि कहा जाय कि अविद्या मन नहीं है तो वह कल्पना नहीं कर सकती। फिर **शाङ्करवेदान्त ने तो अविद्या को अज्ञान कहा गया है । ज्ञान तथा अज्ञान बिना किसी अधिष्ठाता के नहीं रह सकता। तथा उसका अधिष्ठान कोई अचेतन तत्त्व नहीं हो सकता है इसलिए यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि यह अविद्या कहाँ रहती है ।** शाङ्करवेदान्त के अनुसार चेतन तत्त्व केवल ब्रह्म है उसके अतिरिक्त कोई नहीं।

११. समरूप के समान स्थिर तीन गुण प्रधान कहा जाता है, उससे भिन्न ईश्वर वा धर्माधर्मादिरूप कर्म उस प्रधान का प्रवर्तक वा निवर्तक बाह्य कोई अपेक्षणीय स्थिर वस्तु नहीं है, कर्म है तो भी वह प्रधान स्वरूप ही है, सदा रहने वाला नहीं है और पुरुष उदासीन है, इससे प्रवर्तक वा निवर्तक नहीं है । इस हेतु से प्रधान सर्वथा अनपेक्ष है; सृष्टि आदि के लिए प्रवृत्ति आदि में प्रधान को किसी सहायकादि की अपेक्षा नहीं रहती है । कर्म प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक को भले ही दूर करते हैं, प्रवृत्ति में नहीं अपेक्षित है । इस प्रकार अनपेक्ष होते हुए भी प्रधान कभी महदादि कार्यरूप से प्रवृत्त होता है, परिणत होता है । और कभी नहीं परिणत होता है, यह अयुक्त है, अर्थात् आगन्तुक किसी वस्तु की अपेक्षारहित प्रधान की सदा साम्यरूप से स्थिति वा सदा प्रवृत्ति प्राप्त होती है, और ऐसा नहीं है, इससे प्रधानकारणवाद अयुक्त है और ईश्वर को तो सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व महामायायुक्तत्व होने से प्रवृत्ति अप्रवृत्ति भी कर्मादि की अपेक्षापूर्वक सिद्ध होते हैं, विरुद्ध नहीं होते है ।[१८१]

यहाँ निम्नलिखित बिन्दु विचारणीय हैं-

१. प्रधान का तात्पर्य- समरूप से अवस्थित रहने वाले तीन गुण।

२. प्रवर्तक व निवर्तक की अनुपस्थिति।

३. पुरुष की उदासीनता।

---

[१८१] सांख्यानां त्रयो गुणा साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्, न तु तद् व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं किंचिद्बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितस्ति, पुरुषस्तूदासीनो न प्रवतको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम्, अनपेक्षत्वाचा कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणते कदाचिन्न परिणमत इत्येतदयुक्तम् । ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महमायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्यते। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद, चतुर्थ सूत्र का भाष्य।

४. प्रकृति का कभी कार्यरूप में परिणत होना तथा कभी न होना यह अयुक्त है ।

५. ईश्वर सर्वज्ञत्व आदि गुणों के कारण प्रवृत्ति एवं निवृत्ति करने में समर्थ है ।

समाधान

प्रथमदृष्ट्या आचार्य शङ्कर के तर्क अत्यन्त शक्तिशाली तथा अकाट्य प्रतीत हो सकते हैं किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि–

प्रतीत होता है कि आचार्य शङ्कर इस गलतफहमी के शिकार हैं कि सत्त्व, रज, एवं तमोगुण की साम्यावस्था सर्वथा स्थिरावस्था है, अतः इसे गति देने के लिये किसी बाहरी तत्त्व की अपेक्षा होनी चाहिए। किन्तु सांख्याचार्य प्रकृति से भिन्न किसी प्रवर्तक और निवर्तक की अपेक्षा स्वीकार नहीं करते। अतः यह ठीक नहीं है । यह गलतफहमी सांख्यदर्शन के ठीक न समझने या उसे जबर्दस्ती गलत ठहराने के आग्रह के कारण उत्पन्न होती है। इस विषय में सांख्यदर्शन की स्थिति इस प्रकार है–

सांख्य से सम्बद्ध कई ग्रन्थों में प्रधान को तीनों गुणों की साम्यावस्था कहा गया है, किन्तु साम्यावस्था का अर्थ स्थिरावस्था नहीं है, अपितु सामञ्जस्य की अवस्था है जिसमें तीनों गुण एक निश्चित सामंजस्य रखते हुए ही अपनी चारों वृत्तियों एक–दूसरे को अभिभव करना, एक–दूसरे को आश्रय देना, एक–दूसरे को उत्पन्न करना और एक–दूसरे का साथी बनने, का निर्वहन करते है । जब तीनों गुण एक दूसरे को अभिभव करने, आश्रय देने, उत्पन्न करने और सहयोगी होने का व्यवहार करते रहते हैं तो यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि साम्यावस्था स्थिरावस्था है या स्थिरता की अवस्था है ।

इससे प्रधान के लिये प्रवर्तक एवं निवर्तक दोनों की आवश्यकता समाप्त हो जाती है तथा बाह्य प्रवर्तक कारक की भी अपेक्षा न रहने के कारण पुरुष के उदासीन होने में कोई हानि नहीं है तथा प्रधान का कार्यरूप में परिणत होने को तो सांख्यदर्शन तथ्य के रूप में स्वीकार करता है । किन्तु प्रकृति के कार्यरूप में परिणत न होने की की बात आचार्य शङ्कर ने सांख्य को गलत ठहराने के लिये प्रस्तुत किया है, क्योंकि सांख्य इसे स्वीकार नहीं करता अर्थात् ऐसा उल्लेख सांख्य में नहीं मिलता।

११. फिर भी प्रधानवादी शंका करते हैं कि यह प्रधान भी किसी प्रकार कारण हो सकता है कि जैसे तृण–पल्लव जलादि निमित्तान्तर की अपेक्षा किए बिना स्वभाव से ही दूध आदि रूप से परिणत होते हैं, इसी प्रकार प्रधान भी महत् आदि रूप से परिणाम को प्राप्त हो सकता है।[१८२]

११. प्रधान की स्वाभाविकी ही प्रवृत्ति मान लें, तो भी दोष की प्राप्ति होती ही है, क्योंकि अर्थप्रयोजन के अभाव से दोष रहता है। अर्थात् यदि प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है, इसी से इस प्रवृत्ति में प्रधान प्रथम किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता है, यह कहा जाता है तो कहा जा सकता है कि जैसे ही प्रधान प्रवृत्ति में किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं करता है इसी प्रकार किसी प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं करेगा।[१८३]

समाधान

प्रधान की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है– एक विश्व के लिये तथा दूसरी केवल पुरुष के लिये। समूचे विश्व में जो प्रवृत्ति निरन्तर चलती रहती है, वह गुणसमुदय और परिणाम के कारण हर गुण के आश्रय विशेष होने के कारण होती है। अतः यह प्रवृत्ति निरन्तर होती रहती है। इसमें किसी प्रकार का कोई व्यवधान नहीं होता।[१८४] यह प्रवृत्ति स्वाभाविकी होती है।

इसी प्रकार जो प्रवृत्ति केवल पुरुष में होती है उसमें प्रकृत्ति से महत् तत्त्वादि की उत्पत्ति होती है तथा सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। इस प्रवृत्ति में पुरुषार्थ ही कारण होता है। अतः यह प्रवृत्ति नैमित्तिकी होती है, स्वाभाविकी नहीं होती है।

---

[१८२] स्यादेतत्। यथा तृणपल्लवेदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणामत एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, बाष्य,द्वित्याअध्याय, पञ्चम् सूत्र।

[१८३] यदि तावत्स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्यते ततो यथैव सहकारि किंचिन्नोपेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यते इत्यतः प्रधानं पुरुषार्थं साधयितुं प्रवर्त्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयते। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, बाष्य,द्वित्याअध्याय, षष्ट सूत्र।

[१८४] कारणमसत्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिमाणतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥ सांख्यकारिका

इस प्रकार आचार्य शङ्कर का तर्क यही सिद्ध करता है कि खण्डन करने के लिये ही खण्डन कर रहे है ।

११. यदि भोग प्रयोजन कहा जाय तो सुखादिरूप विशेष गुण का जिसमें आधान(स्थापनादि) नहीं किया जा सकता, उस पुरुष को भोग कैसे होगा, यह विवेक कर्तव्य है ।[१८५]

समाधान

सर्वप्रथम भोग शब्द का अर्थ ठीक-ठीक समझना अत्यन्त आवश्यक है । सांख्य में पुरुष अर्थात् चेतन अस्तित्व के विभिन्न आयाम उपलब्ध होते है । वहाँ सूक्ष्म शरीर से युक्त पुरुष का द्रष्टृत्व मात्र ही उसका भोग है । सांख्य में एक बार भी यह नहीं कहा गया है कि सुखादि रूप गुण का पुरुष में स्थापन हो जाये तभी उसे भोग माना जायेगा। मात्र द्रष्टा होने पर ही चेतन को विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों को देखने मात्र से ही उसमें आसक्ति या सम्बद्धता की भावना उसे निरन्तर शरीर धारण किये रहने को विवश करती है । यही सम्बद्धता की भावना उसके लिये भोग है । सांख्य में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि यह सम्बद्धता की भावना पुरुष का स्वाभाविक गुण है । इसलिए नैमित्तिक होने से तथा निमित्त के रहने तक रहती है तथा निमित्त के न रहने पर समाप्त हो जाती है ।

११. भोगमात्र के लिए प्रवृत्ति होने पर मोक्ष का अभाव प्राप्त होगा ।[१८६]

समाधान

सांख्य मे कहीं भी एक बार भी यह नहीं कहा गया है कि प्रकृति की किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति का एकमात्र उद्देश्य भोग है ।[१८७] फिर भी इसका उत्तर आक्षेप संख्या २३ के समाधान पक्ष में दिया गया है ।

---

[१८५] भोगश्चेत्कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत् । ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, बाष्य,द्वित्याअध्याय, षष्ट सूत्र ।

[१८६] भोगश्चेत्कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगा बवेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च । ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् २/२/६

[१८७] सङ्घातपरार्थत्वात्त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥ सांख्यकारिका

११. यदि प्रवृत्ति का प्रयोजन मोक्ष कहा जाय तो प्रवृत्ति से प्रथम भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति अनर्थक सिद्ध होगी।[१८८]

समाधान

सांख्यदर्शन में जिन पुरुषों के विमोक्ष को प्रकृति की महत् आदि हेतु प्रवृत्ति का प्रयोजन कहा गया है वे पुरुष वास्तव में सर्वथा कर्माशयरहित नहीं होते हैं, अपितु यह बात केवल उन्हीं के कही गयी है जो वर्तमान शरीरयुक्त हैं अथवा अमुक्त है ।[१८९] मुक्ति तथा भोग के लिये जिस प्रकृति की प्रवृत्ति बात

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥ सांख्यकारिका
पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तानैमित्तिक प्रसङ्गेन ।
प्रकृतिर्विभुत्व योगान्नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥ सांख्यकारिका
ज्ञनेन चापवर्गो विपर्य्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥ सांख्यकारिका
वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥ सांख्यकारिका
रुपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थ प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥ सांख्यकारिका
एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥ सांख्यकारिका
तेन निवृत्तप्सवार्थवशात्ससप्तरूपविनिवृताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥ ६५ ॥ सांख्यकारिका
दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तये: प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥ सांख्यकारिका
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्धानविनिवृत्तः ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥ सांख्यकारिका

[१८८] अपवर्गश्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, बाष्य,द्वित्याअध्याय, षष्ट सूत्र ।

[१८९] जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुणविपर्याच्चैव ॥१८॥सांख्यकारिका
तस्माच्च विपर्यसात्सिद्दं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥ सांख्यकारिका

कही गयी है वह मूल प्रकृति(प्रधान या अव्यक्त) नहीं अपितु महत् तत्त्वरूप प्रकृति है । इसका तात्पर्य यह है कि महत् नामक प्रकृति के सात (७) रूप केवल भोग के लिये प्रवृत्त होते हैं तथा एक रूप कैवल्य के प्रवृत्त होता है ।[११०]

११. उभयार्थक प्रवृत्ति मानने पर भी भोग के योग्य प्रधान के कार्यरूप मात्रा (विषयों) के अनन्त होने से अनिर्मोक्ष की प्राप्ति होगी ही[१११]

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुण्कर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥ सांख्यकारिका
पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥ सांख्यकारिका

[११०] पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥ सांख्यकारिका
अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्य्यस्तम् ॥ २३ ॥ सांख्यकारिका
एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छति ॥ ३६ ॥ सांख्यकारिका
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विनिशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥ सांख्यकारिका
धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
ज्ञनेन चापवर्गो विपर्य्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥ सांख्यकारिका
वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥ सांख्यकारिका
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥ सांख्यकारिका
रुपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थ प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥ सांख्यकारिका
एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥ सांख्यकारिका

[१११] उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव । ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, बाष्य,द्वित्याअध्याय, षष्ट सूत्र ।

समाधान

यह मानना सर्वथा गलत होगा कि भोग भोगते रहने से उसमें केवल आसक्ति ही उत्पन्न होती रहेगी। इसके ठीक विपरीत अनुभव यह कहता है कि भोगों को अधिक भोगने से उनके प्रति एक अनिच्छा एवं असन्तुष्टि का भाव भी उत्पन्न होता है जो सर्वथा विधेयात्मक तथ्य है । जैसे अग्नि में थोड़ा-थोड़ा घी डालने से वह बढती रहती है किन्तु उसमें एक साथ बहुत अधिक मात्रा में घी डालने से आग बिल्कुल बुझ जाती है, यह व्यवहार और सिद्धान्त दोनों से सिद्ध तथ्य है । इसलिए आचार्य शङ्कर की यह आशंका वास्तव में कोई दम नहीं रखती है कि भोगों के आधिक्य से मोक्ष नहीं मिलेगा।

२२. दृक्शक्ति और सर्गशक्ति के अनुच्छेद से संसार का भी अनुच्छेद (अविनाश) होने से से मोक्षाभाव की ही प्राप्ति होगी।[१९२]

समाधान

प्रकृति की सर्गशक्ति केवल एक ही गुण पर निर्भर नहीं करती। इसलिए संसार का उच्छेदन न होने पर भी मोक्षाभाव नहीं होगा, क्योंकि महत् तत्त्व का सात्विक सत्त्वगुणात्मक रूप अर्थात् ज्ञान ज्योंही कार्य करना प्रारम्भ करेगा त्योंही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा। तथा यह तभी संभव होगा जब पुरुष की दृक्शक्ति तथा प्रकृति की सर्गशक्ति का उच्छेद न हो।[१९३]

---

[१९२] . . . दृक्शक्त्यनुच्छेदवसर्गशक्त्यनुच्छेदात्संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव । ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, बाष्य,द्वित्याअध्याय, षष्ट सूत्र ।

[१९३] त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च प्मान् ॥ ११ ॥ सांख्यकारिका
प्रित्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभावाश्रयजनमिथ्नवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२॥ सांख्यकारिका
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥ सांख्यकारिका
तस्माच्च विपर्यसात्सिद्दं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥ सांख्यकारिका
अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्य्यस्तम् ॥ २३ ॥ सांख्यकारिका

आचार्य शङ्कर बार-बार यह भूल जाते हैं कि वे जिस सांख्य का खण्डन करने का प्रयास कर रहे हैं वह एक अद्वैतवादी दर्शन न होकर पुरुषबहुत्ववादी दर्शन है । इसलिए यह तथ्य अत्यन्त विचारणीय है कि जो प्रकृति असंख्य पुरुषों से सम्बद्ध है उसकी सर्ग शक्ति यदि एक पुरुष के कैवल्य के साथ समाप्त हो जाती है तो अन्य पुरुषों को कैवल्य प्राप्ति हेतु परिस्थितियाँ कहाँ से मिलती।

इस प्रकार आचार्य शङ्कर द्वारा की गयी प्रधानकारणवाद की आलोचनाएँ यही सिद्ध करती हैं कि सांख्य की आलोचना करने का आग्रह उन पर इस प्रकार हावी हो गया है कि वे आलोचना करने के प्रवाह में अनेक बार ऐसे विचार व्यक्त करते हैं जो स्वयं अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध सिद्ध होती हैं । अर्थात् सांख्य की आलोचना करते समय उनके द्वारा व्यवस्थित दृष्टिकोण का अवलम्बन नहीं किया है ।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।

सैव च पुरुषार्थ प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥ सांख्यकारिका

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥ सांख्यकारिका

अध्याय–३

पुरुष संबन्धी आलोचना की समीक्षा

सांख्यकारिका की दूसरी कारिका के अनुसार पुरुष ज्ञ अर्थात् ज्ञाता है । यहाँ ज्ञाता शब्द को एक विशेष अर्थ में ग्रहण किया गया है । इसकी व्याख्या समझाने के लिए १७ वीं कारिका के *त्रिगुणादि विपर्ययात्* शब्द को सम्यक्तया समझना अत्यन्त आवश्यक है । यहाँ प्रयुक्त त्रिगुणादि शब्द से ११ वीं कारिका की प्रथम पंक्ति अभीष्ट है । यह पंक्ति इस प्रकार है *"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।"* इस पंक्ति को सन्दर्भ में लाने से त्रिगुणादिविपर्ययात् का अर्थ होता है– सत्त्व, रजस्, और तमस तीनों गुणों से विविक्त अर्थात् (*प्रकृति के सम्पूर्ण विस्तार*) से सर्वथा भिन्न, अविषय अर्थात् अज्ञेय, असामान्य, चेतन तथा अप्रसवधर्मि इससे स्पष्ट होता है कि पुरुष, ज्ञाता इस अर्थ में है कि वह व्यक्त और अव्यक्त रूपी प्रधान व विकृति की तरह से ज्ञेय नहीं है अर्थात् ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं हो सकता है, वह सर्वदा ज्ञाता ही रहता है । इसी को स्पष्ट करते हुए स्वयम् आचार्य शंकर कहते हैं–

यदि ऐसा मानें कि विषम होने के कारण यह दृष्टान्त ठीक नहीं है अर्थात् स्तम्भ और पुरुष दोनों ज्ञेय वस्तु हैं, उनमें अविद्यावश ज्ञाता द्वारा एक में एक का अध्यास किया गया है परन्तु देह और आत्मा में तो ज्ञेय और ज्ञाता का ही एक दूसरे में अध्यास होता है, इसलिए यह दृष्टान्त सम नहीं है, अतः यह सिद्ध होता है कि देह का ज्ञेयरूप धर्म भी ज्ञाता आत्मा में होता है । इसमें आत्मा को जड मानने आदि का प्रसङ्ग आ जाता है, इसलिए ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञेयरूप शरीरादि क्षेत्र के सुख, दुःख, मोह और इच्छादि धर्म ज्ञाता के भी होते हैं , तो यह बतलाना चाहिए कि ज्ञेयरूप क्षेत्र के अविद्या द्वारा आरोपित कुछ धर्म तो आत्मा में होते हैं और कुछ जरा–मरणादि नहीं होते, इस विशेषता का क्या कारण है? बल्कि, ऐसा अनुमान तो किया जा सकता है कि जरादि के समान अविद्या द्वारा आरोपित त्याज्य तथा ग्राह्य होने के कारण यह सुख–दुःखादि नहीं है । ऐसा होने से यह सिद्ध हुआ है कि कर्तृत्व–भोक्तृत्वरूप यह संसार ज्ञेय वस्तु में स्थित हुआ ही अविद्या द्वारा ज्ञाता में अध्यारोपित है, अतः

उससे ज्ञाता का कुछ भी नहीं बिगड़ता, जैसे कि मूर्खों द्वारा अध्यारोपित तल–मलिनतादि से आकाश का (कुछ भी नहीं बिगडता)।[१९४]

अविक्रिय स्वभाव होने के कारण आत्मा का अधिष्ठान आदि से संयुक्त होना, नहीं बन सकता। विकारवान वस्तु का ही अन्य पदार्थों के साथ संघात हो सकता है और विकारी पदार्थ ही संहत होकर कर्त्ता बन सकता है । निर्विकार आत्मा का, न तो किसी के साथ संयोग हो सकता है और न ही संयुक्त होकर उसका कर्तृत्व बन सकता है । इसलिए आत्मा का केवलत्व स्वभाविक है, अतः यहाँ केवल शब्द का अनुवाद मात्र किया गया है । आत्मा का अविक्रियत्व श्रुति–स्मृति और न्याय से प्रसिद्ध है । गीता में भी यह विकाररहित कहलाता है । सब कर्म गुणों से ही किये जाते है । आत्मा शरीर में स्थित हुआ ही नहीं करती इत्यादि वाक्यों द्वारा अनेक बार प्रतिपादित है और मानों ध्यान करता है, मानों चेष्टा करता है इस प्रकार श्रुतियों में भी प्रतिपादित है तब न्याय से यह सिद्ध होता है, क्योंकि आत्मतत्त्व अवयवरहित, स्वतन्त्र और विकार रहित है । ऐसा मानना ही राज मार्ग है । यदि आत्मा को विकार मानें तो भी इसका स्वकीय विकार ही अपना हो सकता है । अधिष्ठान आदि के किये हुए कर्मात्मा–कृर्तक नहीं हो सकते क्योंकि अन्यों के कर्मों को बिना किये ही अन्य के पल्ले बाँध देना उचित नहीं है । जो अविद्या से आरोपित किये जाते हैं, वे वास्तव में उसके नहीं होते। जैसे सीप में आरोपित चाँदीपन सीप का नहीं होता एवं जैसे मूर्खों द्वारा आकाश में आरोपित की हुई तल मलीनता आकाश की नहीं हो सकती वैसी ही अधिष्ठानादि पाँच हेतुओं के विकार भी उनके ही हैं, आत्मा के नहीं ।

---

[१९४] न अतुल्यत्वाद् इति चेत् स्थाणुपुरुषौ ज्ञेयौ एव सन्तौ ज्ञात्रा अन्योन्यस्मिन अध्यस्तौ अविद्यया देहात्मनोः तु ज्ञेयज्ञात्रोः एव इतरेतराध्यास इति न समो दृष्टान्तः अतो देह धर्मो ज्ञेयः अपि ज्ञातुः आत्मनो भवति इति।

न अचैतन्यादिप्रसंङ्गात्। यदि हि ज्झेयस्य देहादेः क्षेत्रस्य धर्माः सुखदुःखमोहेच्छादयो ज्झातुः भवन्ति तर्हि ज्ञेयस्य क्षेत्रस्य थर्माः केचन आत्मनो भवन्ति अविद्याध्यारोपिता जरामरणादयः तु न भवन्ति इति विशेषहेतुः वक्तव्यः।

न भवन्ति इति अनुमानम् अविद्याध्यारोपित्वाद् जरादिवद् इति हेयत्वाद् उपादेयत्वात् च इत्यादि।

तत्र एवं सति कतृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारो ज्ञेययस्थो ज्ञातातरि अविद्यया अध्यारोपित इति न तेन ज्ञातुः किण्चिद् दुष्यति। यथा बालैः अध्यारोपितेन आकाशस्य तलमलवत्त्वादिना।

सुतरां यह ठीक ही कहा है कि मैं कर्ता हूँ ऐसी भावना का और बुद्धि के लेप का अभाव होने के कारण, पूर्ण ज्ञानी ना मरता और न बाँधता है । दूसरे अध्याय में यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है इस प्रकार प्रतिज्ञा करके, न जायते इत्यादि हेतु उक्त वचनों से आत्मा का अविक्रियत्व बतलाकर, फिर *वेदाविनाशिनम्* इस श्लोक से उपदेश के आदि में विद्वान के लिये संक्षेप में कर्माधिकार की निवृत्ति कह कर, जगह-जगह प्रसङ्ग लाकर बीच-बीच में जिसका विस्तार किया गया है, ऐसी कर्माधिकार की निवृत्ति का, अब शास्त्र के अर्थ का संग्रह करने के लिये विद्वान न मरता है और न बँधता है इस कथन से उपसंहार करते है ।

सुतरां यह सिद्ध हुआ है कि, विद्वान में देहधारीपन अभिमान न होने के कारण उसके अविद्याकृतक समस्त कर्मों का संन्यास हो सकता है, इसलिए संन्यासियों को अनिष्टादि तीन प्रकार के कर्मफल नहीं मिलते। साथ ही यह भी अनिवार्य है कि दूसरे इससे विपरीत होते है । इस कारण उनको तीन प्रकार के कर्म फल मिलते है ।[१९५]

---

[१९५] आत्मनः अविक्रियस्वभावत्वे अधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः।

विक्रियावतो हि अन्यैः संहननं संभवति संहत्य वा कतृत्वं स्यात्।

न तु अविक्रियस्य आत्मनः केनचित् संहननम् अस्ति इति न संभूय कर्तृत्वम् उपपद्यते। अतः केवलम् आत्मनः स्वाभाविकम् इति केवलशब्दः अनुवादमात्रम्।

अविक्रियत्वं च आत्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। 'अविकार्योऽयमुच्यते' 'गुणैरेव कर्माणिक्रियन्ते' 'शरीरस्थोऽपि न करोति' इत्यादि असकृद् उपपादितं गीतासु एव तावत्। श्रुतिषु च 'ध्यायतीव लेलायतीव'(छा.उ. ७/६/१) इति एवम् आद्यासु।

न्यायतः च निरवयम् अपरतन्त्रम् अविक्रियम् आत्मतत्त्वम् इति राजमार्गः।

विक्रियावत्ताभ्युपगमे अपि आत्मनः स्वकीया एव विक्रिया स्वस्य भवितुम् अर्हति। न अधिष्ठानादिनां कर्माणि आत्मकर्तृकाणि स्युः। न हि परस्य कर्म परेण अकृतम् आगन्तुम् अर्हति। यत् तु अविद्यया गमितं न तत् तस्य।

यथा रजतत्वं न शुक्तिकायाः। यथा वा तलमलवत्त्वं बालैः गमितम् अविद्यया न आकाशस्य तथा अधिष्ठानादिविक्रिया अपि तेषाम् एव इति न आत्मनः।

तस्माद् युक्तम् उक्तम् अहंकृतत्वबुद्धिलेपाभावाद् विद्वान् न हन्ति न निबध्यते इति।

गुणों की संख्या करने वाले शास्त्र में अर्थात् कपिलमुनि प्रणीत शास्त्र में, गुणों के भेद से यानि सात्विकादि भेद से, प्रत्येक तीन तीन प्रकार के बतलाये गये है । यहाँ त्रिधा के साथ एवं शब्द जोड़कर यह आशय प्रकट किया गया है कि उक्त तीनों पदार्थ गुणों से अतिरिक्त अन्य जाति के नहीं है, *वह गुणों की संख्या करने वाला* ***कपिल शास्त्र यद्यपि परमार्थ ब्रह्म की एकता के विषय में विरुद्ध हैं*** *तो भी गुणों के* ***भोक्ता के विषय में तो प्रमाण हैं ही। वे कपिल सांख्य के अनुयायी और गुण और गुण के व्यापार का निरूपण करने में निपुण है ।*** *इसलिए उनका शास्त्र भी आगे कहे हुए अभिप्राय की स्तुति करने के लिये प्रमाणरूप से ग्रहण किया जाता है, सुतरां कोई विरोध नहीं है ।*[१९६]

पुरुष के इस ज्ञातृत्व को १९ वीं कारिका में पाँच विशेष आयामों के साथ विवेचित किया गया है । ये आयाम इस प्रकार हैं–

१. साक्षित्व

२. कैवल्य

३. माध्यस्थ्य

४. द्रष्टृत्व और

५. अकर्तृभाव

'नायं हन्ति न हन्यते' इति प्रतिज्ञाय 'न जायते' इत्यादिहेतुवचनेन अविक्रियत्वम् आत्मन उक्त्वा 'वेदविनाशिनम्' इति विदुषः कर्माधिकारनिवृत्तिं शास्त्रादौ संक्षेपत उक्त्वा मध्ये प्रसारितां च तत्र प्रसङ्गं कृत्वा इह उपसंहरति शास्त्रार्थपिण्डीकरणाय विद्वान् न हन्ति न निबध्यते इति।

एवं च सति देहभृत्त्वाभिमानानुपपत्तौ अविद्याकृताशेषकर्मसंन्यासोपपपत्तेः संन्यासिनाम् अनिष्टादि त्रिविधं कर्मणः फलं न भवति इति एतत् च अपरिहार्यम् इति।

[१९६] त्रिधा एव अवधारणं गुणव्यतिरिक्तजात्यन्तराभावप्रदर्शनार्थं गुणभेदतः सत्त्वादिभेदेन इत्यर्थः, प्रोच्यते कथ्यते गुणसंख्याने कापिले शास्त्रे,

तद् अपि गुणसंख्यानंशास्त्र गुणभोक्तृविषये प्रमाणम् एव परमार्थब्रह्मैकत्वविषये यद्यपि विरुध्यते।

ते हि कापिला गुणगौण्व्यापारनिरूपणे अभियुक्ता इति तत् शास्त्रम् अपि वक्ष्माणार्थस्तुत्यर्थत्वेन उपादीयते इति न विरोधः।

साक्षित्व

यहाँ साक्षित्व का अर्थ है कि पुरुष प्रकृति की समस्त क्रियाओं का केवल साक्षी होता है अर्थात् उसके पास प्रकृति की क्रियाओं को तद्रूपता के साथ देखने का सामर्थ्य है, किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि प्रकृति में घटने वाली घटनाओं का साक्षी होने के कारण पुरुष उन घटनाओं से सम्बद्ध संस्कारों से युक्त होगा, क्योंकि वह चेतन मात्र होने के कारण प्रकृति से सम्बद्ध किसी संस्कार को वहन नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने से वह प्रकृति से विविक्त नहीं हो सकता है ।

कैवल्य

कैवल्य शब्द केवल शब्द से ष्यञ् प्रत्यय लग कर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- पूर्णरूपेण अकेलापन या भिन्नत्व अर्थात् सम्पूर्ण विश्व में प्रकृति की जितनी विकृतियाँ हैं तथा उनकी जितनी क्रियाएँ, अनुक्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ हैं उन सब से सर्वथा पृथक् होना ही यहाँ कैवल्य शब्द से बोध्य है । इसका कारण यह है कि ज्ञातृत्व की एक अनिवार्य शर्त यह है कि ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं हो सकता, क्योंकि केवल चेतन ही ज्ञाता हो सकता है अचेतन नहीं तथा ज्ञान किसी शरीरी को ही हो सकता है, शरीर को वह स्वयं अनुभव करता है किन्तु स्वयं को अनुभव नहीं करता, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि कहा जाय कि शरीर जानता है तो उस स्थिति में शरीर को भी चेतन मानना पड़ेगा जो कि सर्वथा अयुक्त है ।

माध्यस्थ्य

कैवल्य से पहले पुरुष जड़ एवं चेतन दोनों की संयुक्तावस्था में रहता है । अचेतन प्रकृति से अचेतन पदार्थों की ही अभिव्यक्ति होती है । जैसे- प्रकृति से महत्, महत् से अंहकार से पञ्चतन्मात्राएं तथा इनसे पञ्च महाभूत तथा फिर एकादश इन्द्रियाँ अभिव्यक्त होती है । ये सभी प्रकृति के विकार हैं अर्थात् अचेतन प्रकृति की अभिव्यक्तिमात्र ही हैं। यह सूक्ष्मशरिर में जो गुण(प्रकृति) हैं, वे ही वास्तव में कर्त्ता हैं। किन्तु पुरुष उदासीन या निष्क्रिय होने पर भी संयोग के कारण कर्ता की तरह प्रतीत होता है । इस स्थिति में चेतन न शुद्ध पुरुष रहा और न प्रकृति(प्रधान) न कर्ता रहा तथा न अकर्त्ता(निष्क्रिय) रहा। इसलिए वह माध्यस्थ्य है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि माध्यस्थ्य होना भी पुरुष की एक महत्वपूर्ण विशेषता है ।

द्रष्टृत्व

सांख्य के पुरुष की एक महत्वपूर्ण विशेषता द्रष्टृत्व है, किन्तु इस द्रष्टृत्व का तात्पर्य साक्षीत्व की तरह केवल मात्र देखना नहीं है, अपितु विशेष रूप से देखना या ज्ञान प्राप्त कारना है । पुरुष प्रकृति की तरह जड़ नहीं, अपितु चेतन है, और साथ ही वह विषय भी नहीं है, अपितु अविषय है, अतः वह द्रष्टा है । जड़ पदार्थ द्रष्टा नहीं हो सकता, किन्तु पुरुष जड़ पदार्थ नहीं है और न विषय है अतः पुरुष चेतन तथा अविषय होने से द्रष्टा है । साक्षी भी द्रष्टा ही होता है,किन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि वह साक्षात् रूप से द्रष्टा होता है ।इस प्रकार सांख्य के पुरुष का द्रष्टृत्व एक निश्च्य ही अतिमहत्त्वपूर्ण विशेषता है ।

अकर्तृभाव

सांख्य के पुरुष की एक विशेषता अकर्तृभाव है । निर्गुण होने कारण वह सुख-दुःख दोनों से रहित है । गुण क्रियाओं के प्रयोजक होते हैं, साथ ही क्रिया एक प्रका का परिणाम या विकार है भी है, किन्तु पुरुष निर्गुण एवं अप्रसवधर्मी अर्थात् अपरिणामी या निर्विकार है, अतः वह अकर्ता है ।

सांख्य के पुरुष के इस प्रकार सामान्य परिचय के बाद शोध के मुख्य बिन्दु की ओर आते हुए आचाय शङ्कर द्वारा की प्रस्थानत्री शाङ्करभाष्य में आलोचनाओं की समीक्षा विशद् रूप से की जा रही है । जो इस प्रकार है-

१. *. . .एक होती हुई अग्नि अपनी आत्मा को न दग्ध करती-जलाती है, न प्रकाशित ही करती है, फिर कूटस्थ एक ब्रह्म में तप्य-तापकभाव का सम्भव कैसे हो सकता है ।*[११७]

समाधान

अग्नि तत्त्व अलग है और जलाना गुण अलग है, ऐसी बात नहीं है । अर्थात् अग्नि की कोई आत्मा नहीं होती है । तप्य तापकभाव पुरुष का गुण भी नहीं है, क्योंकि पुरुष तो निर्गुण है, केवल 'ज्ञ' स्वरूप है । अतः आचार्य शङ्कर का यह उद्धरण सर्वथा गलत है । आचार्य शङ्कर के उदाहरण के अनुसार

[११७] न ह्यग्निरेकः सन्स्वमात्मानं दहति प्रकाशयति वा सत्यप्यौष्णयप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च, किम् कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिंस्तप्यतापकभावः संभवेत्।

तो आत्मा स्वयं सुखी एवं दुःखी नहीं होती बल्कि दूसरों को सुख-दुःखानुभूति कराती है और दूसरी ओर स्वयं शङ्कर ही कहते हैं कि आत्मा में तप्य तापकभाव होते ही नहीं।

"सन्स्वमात्मानं दहति..." कहकर आचार्य शङ्कर अग्नि की अपनी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते है । ऐसे तो जल,वायु आदि सभी जड़ पदार्थों की अपनी-अपनी आत्माएँ स्वीकार करनी पडेंगी तथा इससे वेदान्त का अद्वैतवाद सर्वथा खण्डित होकर स्वतः ही पुरुषबहुत्व की सिद्धि हो जाती है ।

२. *एक आत्मा में तप्य-तापकभाव नहीं है, तो यह तप्य-तापकभाव कहाँ है? तो कहा जाता है कि व्यवहार में जहाँ देखा जा है, वहाँ है, इससे क्या प्रत्यक्ष ही नहीं देखते हो कि ताप का कर्म स्वरूप जीवित देह तप्य है, और सूर्य तापक है ।*[१९८]

समाधान

ब्रह्म में तप्य-तापकभाव को अस्वीकार करने के बाद तप्य-तापकभाव के अधिष्ठान का प्रश्न आता है कि आखिर तप्य-तापकभाव का अधिष्ठान क्या है । इसके उत्तर में आचार्य शङ्कर कहते हैं कि सूर्य तापक है तथा जीवित देह तप्य है अर्थात् जीवित देह तप्यता का और सूर्य तापकता का अधिष्ठान है, क्या इस तप्य और तापक दोनों के अलग-अलग होने संबन्धी समस्या का समाधान हुआ, तो उत्तर होगा बिल्कुल नहीं, क्योंकि शाङ्करवेदान्त का सिद्धान्त है 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'। जो केवल ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं तथा जगत् को मिथ्या मानते हैं वे आचार्य शङ्कर सूर्य को तापक तथा जीवित देह को तप्य मानकर द्वैत को क्यों स्वीकार कर रहे है । यदि अद्वैत सिद्धान्त को छोड़ना ही है तो फिर केवल द्वैत को मानने की अपेक्षा पुरुषबहुत्त्व का सिद्धान्त अधिक युक्तिसंगत है ।

३. *यहाँ शंका होती है कि दुःख का तप्ति(ताप) नाम है, वह ताप चेतयिता(चेतन) का धर्म है, अचेतन देह का नहीं। यदि देह को भी ताप होता, तो देह के नाश से वह ताप स्वयं नष्ट हो जाता। इससे उस ताप के नाश के लिये साधना का अन्वेषण स्वीकार नहीं करना होगा । देह के*

---

[१९८] क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति? उच्यते-किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवद् देहस्त प्यस्तापकः सवितेति। ननु तपतिर्नाम दुःखं सा चेतयितुर्नाचेतनस्य देहस्य, यदि देहस्यैव तप्तिः स्यात्सा देहनाशे स्वमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैषितव्यं स्यादिति।

अभाव रहते भी केवल चेतन का ताप नहीं देखा गया है । केवल चेतन का तापरूप विकार सांख्यवादी को भी इष्ट नहीं है, इससे चेतन मात्र का विकार नहीं माना जाता है । [१९९]

समाधान

सांख्य के पक्ष का अपप्रस्तुतिकरण

सांख्य दो प्रकार के शरीर मानता है । एक सूक्ष्म तथा दूसरा स्थूल शरीर। सांख्य का मानना है कि सूक्ष्म शरीर से युक्त चेतन को ही दुःख होता है। आचार्य शङ्कर भी शाङ्करवेदान्त में दो शरीर, सूक्ष्म एवं स्थूल मानते हैं, लेकिन आचार्य शङ्कर यहाँ स्थूल शरीर (जीवित देह) के नष्ट होने पर दुःखनिवृत्ति को सांख्य की ओर से सम्भावित प्रश्न के रूप में प्रस्तुत कर रहे है । किन्तु कोई भी सांख्याचार्य ऐसा प्रश्न नहीं करेगा और करेगा भी तो यह अवश्य पूछेगा कि किस शरीर की निवृत्ति होने पर दुःखनिवृत्ति होगी। आचार्य शङ्कर इस प्रश्न से बचते हुए एक विचित्र प्रश्न खडा करते हैं जो कि सर्वथा असंगत है ।

४. *देह–चेतन के संघात का धर्म ताप माना जाय तो वह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अशुद्धि–संगादि दोष के प्रसंग से चेतन और देह को संहतत्व भी नहीं है ताप के ही ताप को भी नहीं मानते हो तो तुम्हारे मत में भी तप्य–तापक भाव कैसे है ।*[२००]

समाधान

सांख्य के अनुसार दुःख २५ तत्त्वों में से किसी का भी धर्म नहीं है[२०१]। वेदान्त के अनुसार भी दुःख किसी तत्त्व का धर्म नहीं है । जब सांख्य और वेदान्त दोनों ही इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि

---

[१९९] देहाभावेऽपि कैवल्यस्येचेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा। न च त्वयापि तप्तिर्नाम विक्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते।

[२००] नापि देहचेतनयोः संहतत्वम्, अशुद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात्। न च तप्तेरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि कथं तवापि तप्यतापकभवः।

[२०१] त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥ सांख्यकारिका
प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥ सांख्यकारिका

दुःख किसी भी तत्त्व (द्रव्य) का धर्म नहीं है तो आचार्य शङ्कर दुःख को धर्म के रूप में क्यों स्वीकार करते हैं? अच्छा होता कि किसी का खण्डन किये बिना ही अपनी बात सीधे शब्दों में कह देते।

५. *कहो कि सत्त्वगुण तप्य है, और रजोगुण तापक है तो भी उनके साथ चेतन पुरुष के संहतत्व की अनुपपत्ति से पुरुष में बंधन का अभाव है। इससे मोक्षोपदेशरूपी शास्त्र का आरम्भ नहीं होना चाहिए*[२०१]

समाधान

पुरुष का द्रष्टृत्व एवं दुःख

कोई भी द्रष्टा जब दृश्यों को देखता है तब दृश्यों के संस्कार उस पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं जिससे द्रष्टा की द्रश्य के प्रति सम्बद्धता की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसी के कारण सत्त्वगुण-प्रधान दृश्यों को देखकर उसे खुशी होती है और रजोगुण प्रधान दृश्यों को देखकर दुःख होता है। सांख्य के

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥ सांख्यकारिका

तस्माच्च विपर्यसात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥ सांख्यकारिका

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्य्यस्तम् ॥ २३ ॥ सांख्यकारिका

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥ सांख्यकारिका

रूपादिषु पञ्चानम् आलोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥ सांख्यकारिका

[२०१] सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत्। न। ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः।

अनुसार पुरुष द्रष्टा है ।[२०३] इसलिए उसे भी सुख-दुःख की अनुभूति होना असंभव नहीं है । इसीलिये सांख्य में कहा गया है कि सम्बद्ध चेतन पुरुष दुःख को प्राप्त करता है ।[२०४] जब वह अपनी द्रष्टृत्व स्वरूप को जान लेता है तो धीरे-धीरे सम्बद्धता से मुक्त होता जाता है तथा अन्त में कैवल्य को प्राप्त होता है ।

६. *यदि कहो कि सत्त्व गुण के अनुरोधी होने से स्वच्छता द्वारा तप्य सत्त्व में प्रतिबिम्बित होने से और अविवेक से असंग चेतन भी तापयुक्त के(इव) समान होता है । इससे अविवेक की निवृत्ति के लिये शास्त्र सार्थक है । तो कहा जा सकता है कि इव शब्द के प्रयोग से यह प्राप्त(सिद्ध) होता है कि पुरुष परमार्थरूप से ताप युक्त नहीं होता है । जब आत्मा तप्त नहीं होता है, तभी इव शब्द दोष के लिये नहीं है । अन्यथा दोष के लिये मिथ्या हो जायेगा, और आत्मा में तापरूप दोष की प्राप्ति होगी*[२०५]

७. *यदि सत्कार्यवादी होकर तप्य-तपकभाव को मिथ्या मानने पर सिद्धान्त-त्याग के भय से चेतन के पारमार्थिक ही तप्यत्व को मानोगे, तो तुझे अत्यन्त मोक्षाभाव की प्राप्ति होगी क्योंकि तापक रजो गुण भी नित्य मानते हो, इससे नित्य ही ताप भी होगा ।*[२०६]

समाधान

दुःख को सत्य मानने से भी सिद्धान्त त्याग का भय बिल्कुल नहीं है क्योंकि दुःख सम्बद्धता की भावना के कारण उत्पन्न होता है और यदि कारणरूप सम्बद्धता की भावना नष्ट हो जाती है तो कार्यरूप

---

[२०३] तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥१९॥ सांख्यकारिका, कारिका १९

[२०४] तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।

लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥५५॥ सांख्यकारिका, कारिका ५५

[२०५] सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि तप्यत इत्यापततीवशब्दप्रयोगात्।

[२०६] अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगच्छसि तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रसज्येत, नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य।

दुःख भी स्वतः ही नष्ट हो जायेगा, क्योंकि कारण के नष्ट होते ही वह असत् हो जाता है तथा असत् से कोई उत्पत्ति नहीं होती है ।[२०७] इसी का समर्थन करते हुए अपने गीताशांकरभाष्य में कहते हैं कि *"ना सतो विद्यते भावः ना भावो विद्यते सतः।"*

सांख्य तीनों गुणों को तो नित्य मानता है किन्तु पुरुष और प्रधान की सम्बद्धता को नित्य नहीं मानता है ।

८. *यदि कहो कि तप्य-तापक शक्ति सत्त्वानुसारी पुरुष और रजो गुण के नित्य होते भी, ताप को संयोग के निमित्त अविवेक सहित संयोग (बुद्धि-पुरुष का संबन्ध) की अपेक्षा होने से अर्थात् संयोगपूर्वक ताप की सिद्धि होने से, संयोग के निमित्त अदर्शन(अविवेक) की विवेक से निवृत्ति होने पर संयोग का अत्यन्ताभाव होता है, इससे आत्यान्तिक मोक्ष सिद्ध होता है । वहाँ कहा जाता है कि अदर्शनरूप तमोगुण को नित्य मानने से विवेक से उसकी निवृत्ति नहीं होकती है।*[२०८]

समाधान

तमोगुण और अविवेक में अन्तर

तमोगुण की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कारिका संख्या-१२ में क्हा गया है कि तमोगुण विषादात्मक है तथा इसका उद्देश्य नियन्त्रण करना है । विषाद का अर्थ है उत्साहहीनता। कारिका-१३ में तमोगुण की विशेषताएँ बताते हुए कहा गया है कि वह भारी तथा अवरोधक है । विशेष अवधातव्य यह है कि अज्ञान तथा उत्साहहीनता दोनों एक नहीं हैं, क्योंकि एक अज्ञानी भी उत्साही हो सकता है, अतः अज्ञान उत्साह को समाप्त नहीं करता बल्कि उसकी दिशा बदलता है ।

जहाँ तक अवरोधकता की बात है, यह एक सापेक्ष विशेषता है जो बन्धन की दृष्टि से ज्ञान में रहती है तथा मोक्ष की दृष्टि से अज्ञान में रहती है । अतः इसे भी केवल अज्ञान नहीं कहा जा सकता।

---

[२०७] असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥९॥ सांख्यकारिका

[२०८] अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात्।

जहाँ तक उत्साहहीनता के उद्देश्यरूप नियामकता का सम्बद्ध है वह भी अवरोधकता की तरह ही सापेक्ष विशेषता है जो बन्धन की दृष्टि से ज्ञान में तथा मोक्ष की दृष्टि से अज्ञान में रहती है ।

इस प्रकार अज्ञान तथा तमोगुण के किसी भी प्रकार एक न होने के कारण आचार्य शङ्कर का तर्क स्वतः ही व्यर्थ में किया गया प्रयास सिद्ध होता है ।

९. *यदि कहो कि तम की निवृत्ति नहीं होने पर भी, विवेक से वह स्वकार्य से उपरत होता है इससे संयोगाभाव से मुक्ति होती है, तो कहा जा सकता है कि गुणों के उद्भव, अभिभव(उत्पत्ति-लय) के अनियतरूप होने से संयोग के निमित्त की उपरति भी अनियत है इससे वियोग को भी अनियत होने से सांख्यवादी को अनिर्मोक्ष अनिवार्य होगा । अर्थात् मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी*[२०९]

समाधान

गुणों का उद्भव, अभिभव अनियत नहीं होता

१२वीं कारिका के अनुसार इस अभिभव, उद्भव आदि का एक निश्चित क्रम है जो इस प्रकार है- पहले एक गुण का अभिभव होता है, उसके बाद उसी गुण को दूसरे गुणों का आश्रय मिलता है । इसी आश्रय के कारण एक भिन्न गुण का जन्म होता है । इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि गुणों का उद्भव, अभिभव आदि अनियत होता है । यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि नियामक कौन है? निश्चय ही तीनों गुणों के स्वभाव ही नियामक है ।

त्रिगुण तथा मुक्ति

त्रिगुण के अपने सभी कार्य नियत होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि मुक्ति और बन्धन केवल गुणों पर निर्भर करता है । कैवल्य अवस्था में तो गुण पुरुष के प्रति निष्प्रभावी होते ही है । इस विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं है । जहाँ तक बद्धावस्था का प्रश्न है इससे भी यह नहीं कहा जा सकता कि केवल गुण ही पुरुष को प्रभावित करते हैं तथा पुरुष गुणों को प्रभावित नहीं करता, क्योंकि

---

[२०९] गुणानां चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतः संयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याप्यनियत्वात्सांख्यस्यैवानिर्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात्।

२०वीं कारिका में स्पष्टरूप से कहा गया है कि उस संयोग के कारण अचेतन लिङ्ग शरीर भी चेतन जैसा हो जाता है अर्थात् पुरुष भी गुणों को प्रभावित करता है ।

सांख्य में पुरुष की अवधारणा कई दृष्टियों से विशिष्ट है । यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि सांख्य पुरुषबहुत्ववाद को स्वीकार करता है तथा सर्वज्ञत्व व सर्वव्यापकत्व आदि गुणों से युक्त किसी भी चेतन सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता । सांख्य को समझने में अन्य सभी दर्शन यहीं आकर बड़ी गलती करते हैं, क्योंकि वे अपने ब्रह्म, ईश्वर आदि के समान ही पुरुष को मानकर सांख्य की आलोचना करते हैं जिससे वे तथ्यों को यथार्थ रूप में समझने से चूक जाते हैं । यही आचार्य शङ्कर के साथ घटित होता है और परिणाम यह निकलता है कि वे न तो सांख्य की अवधारणा को समझ पाते हैं और न समझ पाने के कारण उसका ठीक-ठीक खण्डन कर पाते हैं ।

उपसंहार

सांख्यदर्शन भारत की एक ऐसी प्राचीनतम ज्ञान परम्परा है जो वैदिक परम्परा से सर्वाथा भिन्न है । ऋग्वेद के १०/२७/१६ में कपिल क उल्लेख करते हुआ कहा गया है कि अंगिरा आदि दस ऋषियों प्रजापति के समान कपिल को यज्ञ पूर्ण करने की प्रेरणा दी गयी । संतुष्ट होकर माता ने स्थापित किये हुए गर्भ को धारण किया इस विवरण से स्पष्ट होता है,कि कपिल अथवा ऐसे विचारक होंगे कि जो यज्ञ करने के पक्ष में नहीं थे तथा वे अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि व्यक्ति थे क्योंकि यदि ऐसा नहोता तो न तो उन्हें यज्ञ के लिये प्रेरणा देनी की आवश्यकता होती और न ही प्रजापति के समान तेजोमय माना जाता।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में कोई कपिल नहीं हुआ तो भी इस बिन्दु पर सभी विद्वान एकमत हैं कि ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल ऋग्वेद से बहुत बाद की रचना है । इसलिए ऋग्वेद के दसवें मण्डल में उनका उल्लेख सर्वदा असंभव नहीं है । साथ ही विद्वान इस बिन्दु पर भी एकमत हैं कि ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल इतना भी अर्वाचीन नहीं है कि उसे उपनिषदों से बाद का माना जाय। अर्थात् आचार्य कपिल उपनिषद् से अर्वाचीन नहीं है । अब यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि कपिल के चिन्तन के प्रभाव का वैदिक चिन्तन पर प्रभाव का कोई संकेत ना मिलने के कारण उन्हें उपनिषदों से पहले कैसे माना जा सकता है? इसका उत्तर जानने के लिये इस तथ्य को संदर्भ् में लाना होगा कि कपिल का चिन्तन वैदिक सिद्धान्तों का सर्वदा विरोधी है, इसलिए वैदिकों का इसे स्वीकार करना संभव नहीं है । जहाँ तक विरोध की बात है प्रारम्भ में कपिल चिन्तन प्रम्परा को उतना शक्तिशाली नहीं माना गया होगा कि उस पर विचार किया जाय। किन्तु बोधायनधर्मसूत्र से भी यही पता चलता है कि कपिल ने देवों कि प्रतिस्पर्धा करते हुए संन्यास आश्रम कि स्थापना की थी तथा साथ ही वैदिकों को यह निर्देश दिया गया है कि इस परम्परा को स्वीकार न किया जाय इस तरह यह स्पष्ट है कि कपिल परम्परा प्राचीनतम वेदद्रोही परम्पराएँ हैं तथा यही ब्रह्मसूत्रकार वादरायण और ब्रह्मसूत्रभाष्यकार आचार्य शङ्कर की स्थापना है ।

अब एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह आता है कि क्या सांख्य का भारतीय चिन्तन का बिल्कुल प्रभाव नहीं पड़ा। निश्चय ही भारतीय समाज पर सांख्य का अपूर्व प्रभाव पड़ा किन्तु इस प्रभाव का अब तक कोई

व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया गया है । यदि भविष्य में इस विषय में कोई नया शोध होता है तो इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ सकेगा दूसरे संस्कृत में जितने भी पुरानी पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं उनमें से बहुत ही कम पाण्डुलिपियों के विषय का पता चल पाया है । जब पाण्डुलिपियों में विद्यमान सांख्य संबन्धी सामग्री का अध्ययन किया जायेगा तब और भी निश्चयात्मक जानकारी प्राप्त हो सकेगी किन्तु तब तक के लिये वादरायण और बोधायन धर्मसूत्र में की गयी कपिल व सांख्य की आलोचना ही एक मात्र मार्गदर्शक आधार है । इन आलोचनाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य का प्रभाव अत्यन्त व्यापक स्तर पर पड़ा तथा इसके प्रभाव से अपने पाण्डुलिपियों तथा समाज के दूसरे लोगों को बचाये रखने के लिये ही वैदिक चिन्तनधारा के अनुयायी विचारकों ने औपनिषदिक चिन्तन का प्रारम्भ किया तथा सांख्य के "व्यक्ताव्यक्तज्ञ" विज्ञान के मुकाबले में ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की। यही कारण है कि उपनिषदों ने वैदिक यज्ञों का खुलकर समर्थन किया जैसे- मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि उस व्यक्ति की सात पीढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं जो अग्निहोत्र के बाद अमावस्या, पूर्णमासी और चातुर्मासी यज्ञ नहीं करता, जो फसल काटने के मौसम के बाद अतिथि यज्ञ नहीं करता, आहुति यथा समय नहीं देता और हवन नहीं करता, जो सब देवताओं के लिए किये जाने वाले तरह-तरह के पूजा-पाठ व अनुष्ठान नहीं करता अथवा नियम के विरुद्ध बलि चढ़ाता है ।[२१०]

इसी तरह उपनिषदों ने वैदिक चिन्तनधारा की तरह ही स्वतन्त्र चिन्तन का दमन करना[२११] और वर्णव्यवस्था को न्यायोचित सिद्ध करने जैसे सांख्य विरोधी विचारों एवं परम्पराओं का खुलकर समर्थन किया ।[२१२]

---

[२१०] यस्याग्निहोत्रदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत्-
मासप्तमांस्यतस्य लोकान् हिनस्ति ॥ मुण्डकोपनिषद्, १/२/३

[२११] यत् साक्षादरोक्षाद् ब्रह्म सर्वान्तर आत्मेत्युक्तम्, तस्य सर्वान्तस्य स्वरूपपाधिगमाय आ शाकल्यब्राह्मणाद् ग्रन्थ आरभ्यते । पृथिव्यादीनि ह्याकाशान्तानि भूतानि अन्तर्बहिर्भावेन व्यवस्थितानि; तेषां यद् बाह्यं बाह्यम् अधिगम्याधिगम्य निराकुर्वन् दृष्टुः साक्षात् सर्वाअन्तरोऽगौण आत्मा अथ हैनं गार्गी नामतः, वाचक्नवीवचक्नोर्दुहिता, पप्रच्छ; याज्ञवल्क्येति होवाच; यदिदं सर्वं पार्थिवं धातुजातम् अप्सूदके ओतं च प्रोतं, ओतं दीर्घपटतन्तुवत् प्रोतं तिर्यक्ततन्तुवद् विपरीतं वा- अद्भिः सर्वतोऽन्तर्बहिर्भूताभिर्व्याप्तमित्यर्थः, अन्यथा सक्तुमुष्टिवद् विशीर्येत इदं तावदनुमानमुपन्यस्तम्-यत् कार्यं परिच्छिन्नं स्थूलम्, कारणेनापरिच्छिन्नेन सूक्ष्मेण व्याप्तमिति दृष्टम्-यथा पृथिवी अद्भि; तथा पूर्वं पूर्वमुत्तरेणोत्तरेण व्यापिना भवितव्यम्, इत्येष आ सर्वान्तरादात्मनः प्रश्नार्थः ।
तत्र भूतानि पञ्च संहतान्येवोत्तरमुत्तरं सूक्ष्मभावेन व्यापकेन कारणरूपेण च व्यवतिष्ठन्ते, न च परमात्मनोऽर्वाक् तद्व्यतिरेकेणवस्त्वन्तरमस्ति "सत्यस्य सत्यम्" (बृ. उ. २/१/२०) इति श्रेतेः । सत्यं च भूतप्रपञ्चकम्, सत्यस्य सत्यं च पर आत्मा । कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति-तासामपि

इसी प्रकार यह सब उपनिषदों को आधार बनाकर प्रारम्भ हुए दार्शनिक प्रस्थान वेदान्त दर्शन के वेदान्तसूत्र तथा उसके शाङ्करभाष्य में इसी रूप में प्राप्त होता है ।

ब्रह्मसूत्रकार वादरायण तथा शङ्कर दोनों ने ही सांख्य की आलोचना की है इसमें सर्वप्रथम तो सांख्य की आलोचनीयता की वैधता को स्थापित करने के लिये इसी तर्क को आधार बनाया गया है कि

कार्यात्वात् स्थूलत्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च क्वचिद्धि ओतप्रोतभावेन भवितव्यम्; क्व तासामोतप्रोतभाव इति । एवमुत्तरोत्तर-प्रश्नप्रसङ्गो योजयितव्यः । वायौ गार्गीति ।

नन्वग्राविति व्यक्तव्यम् !

नैष दोषः, अग्नेः पार्थिवं वा आप्यं वा धातुमनाश्रित्य इतरभूतवत् स्वातन्त्र्येण आत्मलाभो नास्तीति तस्मिन्नोतप्रोतभावो नोपदिश्यते ।

कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति तान्येव भूतानि संहतान्यन्तरिक्षलोकाः, तान्यपि गन्धर्वलोकेषु, गन्धर्वलोका आत्यलोकेषु, आदित्यलोकाश्चन्द्रलोकेषु, चन्द्रलोका नक्षत्रलोकेषु, नक्षत्रलोका देवलोकेषु देवलोका इन्द्रलोकेषु इन्द्रलोका विराटशरीराम्भकेषु, भूतेषु प्रजापतिलोकेषु, प्रजापतिका ब्रह्मलोकेषु ब्रह्मलोका नामाण्डारम्भकाणि भूतानि;, सर्वत्र हि सूक्ष्मारम्यक्रमेण प्राण्युपभोगाश्रयाकारपरिणतानि भूतानि संहतानि तान्येव पञ्चेति बहुवचनभाञ्जि ।

कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च-स होवाच याज्ञवल्क्यो हे गार्गि मातिप्राक्षीः स्वं प्रश्नम्, न्यायप्रकारमतीत्य अगमेन प्रष्टव्यां देवतामनुमानेन मा प्राक्षीरित्यर्थः, पृच्छन्त्याश्च मा त् तव मूर्धा शिरो व्यपतद् विस्पष्टं पतेत्; देवतायाः स्वप्रश्न आगमविषयः; तं प्रश्नः; आनुमानिकत्वात् स यस्या देवतायाः प्रश्न सातिप्रश्न्या नातिप्रश्न्यानतिप्रश्न्या, स्वप्रश्नविषयैव, वै देवतामतिपृच्छसि । अतो गार्गि मातिप्राक्षीः, मर्तुं चेन्नेच्छसि । ततो ह गार्गी वाचक्नवी उपरराम ॥ वृहदरण्यकोपनिषद् , ३/६/१

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्नपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिश्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि ग्रह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति । एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोको अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान् पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । तँह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥ ३/९/२६, वृहदरण्यकोपनिषद

[११२]ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेक ँ, सन्न व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्यन्यो यमो मृत्युरीशान इति । तस्मात्क्षत्रापरं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एन ँ, हिनस्ति स्वा ँ, स योनिमृच्छति स पापीयान्भवति यथा श्रेया ँ,स ँ,सित्वा ॥ वृहदरण्यकोपनिषद् , १/४/११,

स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ये वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥ वृहदारण्यकोपनिषद्
स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूयेषय ँ, सर्वं पुष्यति यददं किञ्च ॥ १३ ॥ वृहदारण्यकोपनिषद्, १/४/१३
स नैव व्यभत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीय ँ, समाश ँ, सते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वैतत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्त ँ,सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥ १४ ॥ वृहदारण्यकोपनिषद्, १/४/१४
तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट्शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्र्यो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तमादग्नावेव देवेषु लोकामिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्या ँ, हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् । अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा देदो वाननुक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुंयं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते । अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कारमयते तत्तत्सृजते ॥ वृहदारण्यकोपनिषद्, १/४/१५

अभ्रं भूत्वा मेधो भवति मेधो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओशधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/६

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/७

बोधायनधर्मसूत्र २/६/३०

सांख्यदर्शन वर्णव्यवस्था, संस्कार, एकेश्वर आदि अवधारणाओं को नहीं मानता। इसलिए अवैदिक है । इस लघु शोध-प्रबन्ध के प्रथमाध्याय के अन्तर्गत आचार्य वादरायण एवं शङ्कर के द्वारा प्रस्तुत किये गये इन्हीं तर्कों की समीक्षा की गयी है तथा समीक्षा से यही सिद्ध होता है कि आचार्य वादरायण एवं शङ्कर की स्थापना सर्वथा युक्तिसङ्गत है ।

आचार्य वादरायण और शङ्कर के द्वारा की गयी आलोचनाओं का दूसरा लक्ष्य सांख्यदर्शन की दार्शनिक स्थापनाओं का खण्डन करना है । इसके तहत उन्होंने मुख्यरूप से प्रकृति एवं पुरुष की आलोचना की है । इनमें प्रकृति की आलोचना करते हुए कई बार तो अत्यन्त सूक्ष्म के दर्शन होते हैं तो कई बार सर्वथा स्थूल, किन्तु प्रकृति की आलोचना के लिये उन्होंने जिन मानदण्डों को स्वीकार किया है वे यही सिद्ध करते हैं कि या तो सांख्य की अवधारणाओं को समझा नहीं गया या फिर उनको सांख्यानुसार प्रस्तुत नहीं किया है तथा पूर्वपक्ष के प्रस्तुतीकरण में सांख्य की मूलभावना को ध्यान में नहीं रखा गया । उदाहरण के लिये प्रकृति की अवधारणाओं की आलोचना करते हुए कहा गया है कि "अचेतन प्रधान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि लोक में रथादि स्वतः चलते नहीं देखे जाते तथा मिट्टी से स्वतः मटका आदि बनते नहीं देखे जाते।" यहाँ स्थूल और सूक्ष्म का भेद समझे बिना ही ग्राम्यस्तर के तर्कों को शास्त्रीय तर्क के रूप में स्थापित किया गया है ।

जहाँ तक पुरुष की अवधारणा की आलोचना का संबन्ध है उसमें आचार्य वादरायण एवं शङ्कर ने एक बार भी सूक्ष्म एवं शास्त्रीय दृष्टि का उपयोग नहीं किया । प्रायः वे आलोचना करते समय या तो सांख्य के पुरुष को वेदान्त का ब्रह्म मानने की भूल कर बैठते हैं या फिर यह भूल जाते हैं कि सांख्य में पुरुष बहुत्व का सिद्धान्त स्वीकार्य है । कई जगह तो वे सांख्य के पुरुष को आचार्य उदयन के द्वारा प्रतिपादित ईश्वर जैसा समझने लगते है ।

इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि वादरायण् और आचार्य शङ्कर का यह प्रतिपादन सर्वथा युक्तिसङ्गत है कि सांख्य अवैदिक है, किन्तु प्रकृति एवं पुरुष संबन्धी आलोचनाओं को देखने से तो यही लगता है कि आलोचना करने के लिये ही आलोचना की गयी है ।

जो आलोचना किसी समस्या की ओर अवध्यानाकर्षण के लिये की जाती है, वह निश्चय ही समादरणीय आलोचना होती है, किन्तु आलोचना के लिये आलोचना करना कटुता उत्पन्न करता है ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

मुख्य स्रोत

प्रत्यक्ष

श्वेताश्वरोपनिषद् 'शाङ्करभाष्य'–'तात्पर्यदीपिका' व्याख्यायुगलसमृद्धा विस्तृतभूमिकया च सुशोभिता, हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च श्री जगन्नाथशास्त्री तैलङ्गः, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००२

आचार्यकेदारनाथकृतहिन्दीव्याख्या सम्पादनसहित, वाराणसी, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९९६

गीताशाङ्करभाष्य, गोरखपुर, गीताप्रेस।

उपनिषद्शाङ्करभाष्य, गोरखपुर, गीताप्रेस।

धर्मशास्त्रसंग्रहः भाषाटीकासमेत, वैकुण्ठवासी श्रीबाबू साधुचरणप्रसाद, श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीम्–मुद्रणयंत्रालय, खेतबाडी ७वीं गली खंबाटा लैन, बबंई(मुम्बई), प्रथमावृत्ति, संवत् १९७०, सन् १९१३

धर्मशास्त्रसंग्रहः भाषाटीकासमेत, संकलनकत्ता वैकुण्ठवासी श्रीबाबू साधुचरणप्रसाद, श्रीवैङ्कटेश्वरमुद्राणालय, खेतबाडी ७वीं गली खंबाटा लैन, बंबई(मुम्बई)

पातञ्जलयोगदर्शनम्, महर्षि पतञ्जलि, व्यासभाष्यसहित, योगसिद्धि हिन्दी व्याख्यासहित, व्याख्याकार, श्रीवास्तव, सुरेन्द्र चन्द्र वाराणसी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, २००२।

छान्दोग्योपनिषद्, सानुवाद शाङ्करभाष्य सहित, गोरखपुर, गीताप्रेस।

बर्ह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गोरखपुर, गीताप्रेस।

मनुस्मृति, कल्लुकभट्टटीका, संपादक–पं.श्रीहरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, १९६५ ई.

डा. गंगा सहाय शर्मा, अथर्ववेद, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, २००६

डा. रेखा व्यास, यजुर्वेद, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००४, द्वितीय संस्करण, २००६

युक्तिदिपिका, अज्ञातलेखक, डा. रमाशङ्करत्रिपाठीकृत तत्त्वप्रभा संस्कृत हिन्दी व्याख्यासहित, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, तृतीय संस्करण, १९९९

युक्तिदीपिका, अज्ञातलेखक,

युक्तिदीपिका, अज्ञातलेखक, सम्पादक रामचन्द्र पाण्डेय, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, १९६७

वृहदारण्यकोपनिषद्, सानुवाद शाङ्करभाष्य सहित, गोरखपुर, गीताप्रेस।

सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाचस्पति मिश्र, 'प्रभा'हिन्दीव्याख्यासहित, मिश्र, आद्याप्रसाद, इलाहबाद, अक्षवट प्रकाशन, १९९९

सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाचस्पतिमिश्र, पण्डितज्वालाप्रसादगौड़कृत हिन्दीव्याख्यासहित, वाराणसी चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २००४

सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाचस्पतिमिश्र, पण्डितराजबंशीधरमिश्रविरचित –सांख्यतत्त्वविभाकर, संपादक श्रीरामशास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, द्वितीय संस्करण, २००१

सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाचस्पतिमिश्र, डा. आद्याप्रसादमिश्रकृत तत्त्वप्रभा नामक हिन्दी व्याख्या सहित, इलाहाबाद, अक्षयव प्रकाशन, १९९९

सांख्यतत्त्वकौमुदीसहिता सांख्यकारिका, डा. रामकृष्ण आचार्य, मेरठ, साहित्यभण्डार सुभाष बाजार, १९८७–८८, पञ्चम संस्करण।

सांख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञानभिक्षु, डा. धर्मानन्दशर्माकृत हिन्दीपदार्थानुवादसहित, दिल्ली, अमरग्रन्थ पब्लिकेशन्स, १९९८

सांख्यकारिका, गौडपादकृतगौडपादभाष्यसहित, पं. श्री ज्वालाप्रसादगौड़कृत हिन्दीव्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, पुनर्मुद्रित, २००१

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, गौडपादभाष्यसहित, चन्द्रिका हिन्दी व्याख्यासहित, व्याख्याकार, शास्त्री, राकेश, दिल्ली, संस्कृत ग्रन्थागार, २००२, द्वितीय संस्करण।

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, पं. दुर्गाधरझाकृत सांख्यशास्त्र नामक मैथली व्याख्या सहित, पटना, मैथली अकादमी, प्रथम संस्करण, १९७९

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, बृजमोहनचतुर्वेदीकृत वसुमती संस्कृत-हिन्दी विशद् व्याख्या सहित, नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९६९

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, माठरकृतमाठरवृत्तिसहित, पं. थानेशचन्द्र उप्रेतीकृत हिन्दी व्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००१

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकासहित, डा. रमाशङ्कर त्रिपाठीकृततत्त्वप्रभा संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद सहित, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, तृतीय संस्करण, १९९९

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमुदी, पं. श्रीकृष्णवल्लभाचार्यस्वामीनारायणविरचिता, सांख्यकारिका तत्त्वकौमुदीकिरणावली, श्रीकृष्णवल्लभाचार्य स्वामीनारायणविरचितसांख्यकारिकाभाष्यम्, गौड़पादकृतगौड़पादभाष्यसहितम्, वाराणसी, व्यास प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, १९८९

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, शङ्कराचार्यकृतजयमङ्गलाटीका, संपादक हरदत्तशर्मा, कलकत्ता, कलकता ओरियन्टल सीरीज संख्या-१९

सांख्यकारिका, वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमुदीसहित, डा. गजानन्दशास्त्री मुसलगाँवकरकृत हिन्दी अनुवाद सहित, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, सातवाँ संस्करण २०००

सांख्यदर्शन, कपिल, अनिरुद्धकृतवृत्ति, वेदान्तिमहादेवकृतवृत्ति, विज्ञानभिक्षुकृतभाष्य, नागेशभट्टकृतभाष्यसार, सम्पादक जनार्दनशास्त्री पाण्डेय, दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, १९८९

सांख्यदर्शन, कपिल, विज्ञानभिक्षुकृतभाष्यसहित, रमाशङ्करभट्टाचार्यकृत हिन्दी अनुवाद सहित, वाराणसी, भारती विद्या प्रकाशन, तृतीय संस्करण, १९९४

सांख्यदर्शन, कपिल, विज्ञानभिक्षुकृतसांख्यप्रवचनभाष्यसहित, डा. गजानन्दशास्त्री मूसलगाँवकरकृत प्रदीप हिन्दी व्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सस्थान, द्वितीय संस्करण, २०००

सांख्यदर्शनम्, श्रीधरविरचितसांख्यदीपिकाख्यवृत्ति सहितम् तथा श्रीमदीश्वरकृष्णविरचिता सांख्यकारिका भावप्रकाशसहिता, मैसूर, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्युट, १९८२।

सांख्यदर्शनम्, शास्त्री, आचार्य उदयवीर, दिल्ली, गोविन्दराम हासानन्द, नयी सड़क।

सांख्यसंग्रह, श्रीषिमानन्द(क्षेमेन्द्र) विरचित सांख्यतत्त्वविवेचनम्, श्रीभावागणेशविरचित सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्, सर्वोपकारिण्यभिधकापिलसूत्रटीका, सांख्यसूत्रविवरणाख्यकापिलसूत्रवृत्तिः, श्रीतत्त्वसमाससूत्रवृत्तिः, यजुवित् केशवविरचितासांख्यार्थतत्त्वप्रदीपिका, कविराजयतिविरचितः, सांख्यतत्त्वप्रदीपः, आचार्यकृष्णमिश्रकृता तत्त्वमीमांसा, सांख्यपरिभाषा च, संपादक म. म. श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदी, प्रस्तावना रचयिता श्रीसत्कारिशर्मा वङ्गीयः, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, द्वितीय संस्करण, १९६९

Sankhayakarika, Ishvarakishna, with Tattva Kaumudi of Srrivacaspati Mishra, Translated by Swami Virupakshananada, Mylapore, Madras, Sri Ramkrishana Math First Edition 1995.

Sankhayakarika, Ishvarakishna, with the commentary of Gaudapada, Translated into English with Exhaustive Introduction and notes by Dr.T.G. Mainkar, Delhi, Chaukhamba Sanskarit Pratishthan, first edition, 2004.

Sankhya Aphorism of Kapil, With Extracts from Vijnanabhiksu Commentary, Edited and Translated by James R. Ballantyne, Delhi, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd.,Second Edition, 2003.

Sankhya darsanam, Kapil, With Srider Sankhya Dipika Vrtti, Mysore, Oriental Research Institute, 1982.

Tattva-Kaumudi, Vacaspati Mishra Commentary on the Sankhyakarika, Translated into English by M. M. Ganganath Jha, Introducatoin and Critical Notes by Dr. Har Datt sharma, revised and Re-edited by Dr. M. M. Pathakar, Poona-2, Oriental Book Agency, 1965.

THE VEDAS(SANSKRIT TEXT OF FOUR VEDAS),Edited by Swami Jagdiswaranand Saraswati, VIJAYKUMARA GOVINDRAM HASANAND DELHI, INDIA, Edition, 1997.

अप्रत्यक्ष स्रोत

तर्कभाषा, केशवमिश्र, गजानन्दशास्त्री मुसलगाँवकरकृत हिन्दी व्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, पुनर्मुद्रण, १९९५

तर्कसंग्रह, अन्नम्भट्ट, दयानन्दभार्गवकृत हिन्दी व्याख्या सहित, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रण, २००४

निघन्टु समन्वित निरूक्तम्, यास्क, डा. लक्ष्मण स्वरूप, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रित, २००४

नव्यन्यायभाषाप्रदीप, महमहोपाध्याय महेशचन्द्रन्यायरत्न, आङ्लानुवादसहित आङ्लानुवादक उज्ज्वला झा, कलकत्ता ऐशियाटिक सोसायटी, २००४

प्रशस्तपादभाष्य, प्रशस्तपाद, श्रीधरभट्टप्रणीत न्यायकन्दली, हिन्दी अनुवादक एवं संपादक पण्डित दुर्गाधर झा, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, द्वितीय संस्करण, १९९७

महाभारत, खण्ड–५, शान्तिपर्व, गोरखपुर, गीताप्रेस, पुनर्मुद्रण संवत् २०६३

गौण स्रोत

आद्याप्रसाद, सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, इलाहाबाद, सत्यप्रकाशन, १९६७

चतुर्वेदी, उर्मिला, सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु, वाराणसी, कला प्रकाशन १९८१

मिश्र आद्याप्रसाद, सांख्यदर्शन–पर्यालोचन, नई दिल्ली, राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान, १९९६

कीथ, ए. बी., सांख्यदर्शन का इतिहास, अनुवादक, डा. शिवकुमार, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, १९८४ दिल्ली।

भण्डारी डी. आर., भारतीय दार्शनिक चिन्तन, दिल्ली, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् तथा न्यु भारतीय कॉर्पोरेशन।

दासगुप्ता, एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

वेदालङ्कार जयदेव, भारतीय दर्शन, खण्ड १–५, दिल्ली, न्यु भारतीय कॉर्पोरेशन।

वात्स्यायन, लीलाधर, सांख्यकारिका की युक्तिदीपिकाः एक समीक्षात्मक अध्ययन, दिल्ली, परिमल पब्लिकेशन, २००२

सांकृत्यायन राहुल, दर्शन दिग्दर्शन, किताब महल इलाहबाद।

सत्यवती, सांख्यदर्शन का द्वन्द्वात्मक भोतिकवादी विश्लेषण, साहिबावाद, उत्तर प्रदेश, लोकालोक प्रकाशन, १५६, श्यामपार्क, १९८६

शास्त्री, आचार्य उदयवीर, सांख्यदर्शन का इतिहास, दिल्ली, विजयकुमार, गोविन्दराम हासानन्द, २०००

शास्त्री, प्राचीन सांख्यसन्दर्भ, भूमिका लेखक स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, विजयकुमार, गोविन्दराम हासानन्द, १९९७

शास्त्री, लक्ष्मीचन्द्र, सांख्यकारिकाटीकानामालोचनात्मकाध्ययनम्, दिल्ली, विद्यानिधि प्रकाशन, प्रथम सांस्करण, १९९४

शास्त्री, सांख्यसिद्धान्त, दिल्ली, विजयकुमार, गोविन्दराम हासानन्द, २०००

शास्त्री, सांख्यदर्शन, विजयकुमार, गोविन्दराम हासानन्द, २००३

शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन, मोतीलल बनारसीदास, नई दिल्ली।

Bahadur,K.P., Wisdom of Shakhya, New Delhi, Sterling,1978

Chakravarti, Pulinbihari, Origin and Development of the Shankhya System of Thought, Delhi Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd.' Second Edition, 1975

Chandra, Laxmi, Critical Study of the Commentaries on the Sankhyakarika,Delhi, University of Delhi, Faculity of Arts Department of Sanskarit, 1974

C. Kunhan Raja, Sankhyakarika, of isvarakrsna, A Philosopher's Exposition, Hoshiyapur, Vishwesvarananda Research Institute, 1963

शोध-पत्रिकाएँ

Voice of Shankar, V.R. Bala Subramaniyam, Madras.

Indian Council for Philosophical Research Journal, New Delhi, ICPR.

Journal Council of Oriental Research, Kuppu Swami Research Institute, Chennai

विश्वकोश एवं शब्दकोश

अमरकोश, अमरसिंह, श्रीभानुजिदीक्षितकृत सुधाख्या रामाश्रमीत्यप्राटीकासहित, संस्कृता महामहोपाध्याय पण्डितशिवदत्ताभिधः, नई दिल्ली राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान, पुनर्मुद्रित, २००३

वाचस्पत्यम्, श्रीतारानाथ तर्कवचस्पति, नई दिल्ली, राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान, पुनर्मुद्रित, २००२

शब्दकल्पद्रुम, राजाराधाकान्तदेव, नई दिल्ली, राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान, पुनर्मुद्रित, २००२

The New Encyclopedia of Britannica, Wlliam Bentom, Londom, 1973.

Students Britaannica, Encyclopedia Britannica Pvt. Ltd, 1960.

Encyclopedia Americana, Americana Corporation International, 1977

Encyclopedia of Philosophies, Karl H. Potter, Motilal Banarsidass, Delhi.

Sanskrit-Hindi Kosa, V.S. Apte, Motilal Banarsidass, Delhi, 1963.